(गोविन्द माधव)

योग क्या है ? योगी कौन है ?

(पुस्तक संख्या–25)

(योग की विशिष्ट व्याख्या का ग्रन्थ)

विनयावनत–

ब्रह्मशंकर शास्त्री

✓प्रकाशक की ओर से

योग एक व्यवहारिक शब्द है जिसे वर्तमान में योगा भी कहा जाता है। योग शब्द के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियां वर्तमान समय में उपस्थित हो गयी है तथा योग क्या है ? इस बारे में जनमानस में अनेक प्रकार के विचार हैं। योग वस्तुतः किसी व्यायाम, क्रिया आदि का नाम नहीं है, वरन् योग एक विशिष्ट स्थिति है, जो परमात्मा की सान्निध्यता से प्राप्त हो जाती है। इस कारण अनेक प्रकार के भ्रान्तियों के निवारण हेतु तथा योग के स्पष्टीकरण हेतु यह लघु पुस्तिका श्रीमद्भगवद्गीता के 21 खण्डों के भाष्यकार श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री द्वारा लिखी गयी है। इसमें योग के व्यवहारिक स्वरूप को श्री गीता जी के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जो साधक योग मार्ग का अनुकरण करना चाहते हैं उन्हें इस पुस्तक का गहनतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए और इसमें उल्लिखित तथ्यों तथा प्रस्तुत विचारों के सम्बंध में मंथन करना चाहिए। हम सभी साधक गण जब तक योग के सम्बन्ध में कोई मिथ्या विचार और भ्रान्ति रखते हैं तब तक हमें योग की पूर्णतः की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए यह पुस्तक योग के सम्बन्ध में भ्रान्तियों और मिथ्याविचारों के स्पष्टीकरण हेतु विशिष्ट पुस्तक है। हम सभी को इसका अध्ययन करके जीवन के परम उद्देश्य परमात्मा का साक्षात्कार करने का प्रयास करना चाहिए। यह लघु पुस्तिका सभी साधकों हेतु उपयोगी होगी, ऐसा हमारा विचार है।

➢ **प्रकाशक**

योग की सहज एवं विशिष्ट परिभाषाऐं :–

योग की सहज सरल एवं विशिष्ट परिभाषाऐं श्रीमद्भगवदगीता के आधार पर प्रस्तुत की जा रही हैं, जिनके आधार पर योग के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की जाएगी।

1– परमात्मा का अनन्य चिंतन **'योग'** कहलाता है, जो साधक परमात्मा का अनन्त चिंतन करता है वह **योगी** है।

2– समस्त प्रकार के संकल्पों के त्याग को **योग** कहते हैं, जो साधक समस्त प्रकार के संकल्पों का समग्रता से परित्याग कर देता है, वह **योगी** है।

3– चित्त का वश में होना, उसका अपने स्वरूप में स्थित होना तथा स्पृहा से रहित होना **योग** है। इस कारण जो साधक अपने चित्त को वश में कर लेता है। अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तथा स्पृहारहित हो जाता है, वह **योगी** है।

4– दुःखों के संयोग के वियोग को योग कहते हैं जो साधक समस्त प्रकार के दुःखों के संयोग का वियोगी हो वह **योगी** है।

5– कर्म फल के आश्रय का त्याग करना तथा कर्तव्य कर्मो का आचरण करना योग एवं संन्यास है। इस कारण जो साधक कर्मफल के आश्रय का त्याग कर देता है तथा कर्तव्य कर्मो का आचरण करता है वह **योगी** भी है और **सन्यासी** भी है।

6– जिसका अंतःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ है, जितेन्द्रिय है, मिट्टी के टुकडे, पत्थर और स्वर्ण के टुकड़े में समबुद्धि वाला है वह **मुक्तयोगी** कहलाता है।

7– अपने शरीर के सदृश अन्य जीवों को देखना परमयोग है। जो अपने शरीर के सदृश सभी जीवों को देखता है वह **परमयोगी** है।

8– परमात्मा में अनन्य श्रद्धाभाव रखकर, मन को एकाग्र करके जो साधक परमात्मा का भजन करते हैं वे सर्वश्रेष्ठ **योगी** हैं।

9– जो समस्त संकल्पों का त्याग कर देता है। इन्द्रिय भोगों तथा कर्मो में आसक्त नहीं होता है वह संयासी **योग** में आरूढ कहा जाता है।

ॐ

योग के संदर्भ में :–

वर्तमान समय में योग एक बहुचर्चित शब्द है। जिसके विषय में लगभग प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति परिचित है। समूचे विश्व में इसका प्रचार प्रसार हो रहा है। विश्व के अनेक देशों में योग के प्रचार प्रसार के लिए अधिकांश भारतीय मनीषी संलग्न हैं। वस्तुतः योग शब्द का नाम आते ही हम सब विशिष्ट प्रकार के व्यायामों के बारे में विचार करने लगते हैं। योग कुछ विशिष्ट प्रकार के व्यायामों का नाम नहीं है। इसका बड़ा व्यापक अर्थ है। जिसे हमें समझना चाहिए। योग शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने तथा उसे व्याख्यापित करने के पूर्व कुछ तर्कसंगत तथ्य प्रस्तुत करना अनिवार्य है, तत्पश्चात् योग की व्याख्या करके उसकी प्राप्ति के सरल उपाय की चर्चा करने का प्रयास करेंगे।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शन में जो ग्रंथ उपलब्ध है उनकी सीमा नहीं है। हमारे देश के मनीषियों ने अध्यात्मिक विषय पर अनेकानेक ग्रंथ लिखे हैं। यह ग्रंथों के लेखन की क्रिया अति प्राचीन समय से चली आ रही है और वर्तमान में भी चल रही है। हमारे देश में अनेक मनीषी तत्त्वदर्शी महापुरूष हुए हैं जिन्होंने अपने अनुभव के आधार पर परमात्मा के साक्षात्कार के विषय में पर्याप्त साधन और प्रक्रियाएं प्रस्तुत की हैं। इस कारण वर्तमान में हजारों आध्यात्मिक ग्रंथ उपलब्ध हो गए हैं। इसके अतिरिक्त पिछली सदी से अब तक अनेक चिंतकों और विचारकों ने भी अनेक प्रकार के अध्यात्मिक ग्रंथ लिखे हैं। वस्तुतः प्राचीन समय में प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्य लिखकर अनेक महापुरूषों ने आचार्य की पदवी प्राप्त की थी। वे भाष्य आज वर्तमान समय में उपलब्ध हैं तथा उनसे अद्वैत, द्वैत आदि मत प्रचलित हो गए। योग के सम्बंध में भी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं जो अनेक मनीषियों, चिंतकों, विचारकों और महानुभावों द्वारा लिखी गयी हैं।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शन में जो कुछ भी उपलब्ध है उसमें प्रमुखता से चार प्रकार के ग्रंथ हैं। इन चार प्रकार के ग्रंथों को श्रेणीबद्ध किया जाना इस विषय की प्रस्तुति के आधार पर है जो चार प्रकार के ग्रंथ आज उपलब्ध हैं उनका विवरण निम्न प्रकार है–

1– उत्कृष्ट साधकों तथा दार्शनिकों, विचारकों द्वारा रचित ग्रंथ जिसमें स्वतंत्र रूप से लिखे गए भाष्य और टीकाएं सम्मिलित हैं जो मौलिक ग्रंथों को आधार बनाकर लिखी गयी हैं।

2– तत्त्वदर्शी महापुरूषों द्वारा लिखे गए ग्रंथ जिनमें भारतीय दर्शन के 6 ग्रंथों का उल्लेख होता है। वे 6 ग्रंथ हैं 1–ब्रह्मसूत्र 2–सांख्य दर्शन 3–योग दर्शन 4–न्याय दर्शन 5–मीमांसा दर्शन तथा 6–वैशेषिक दर्शन।

3– परमात्मा की परोक्ष वाणी की मान्यता प्राप्त ग्रंथ, जिनमें सम्पूर्ण वेद तथा उनका ज्ञानकाण्ड जो उपनिषदों के रूप में उपलब्ध है।

4– परमात्मा की अपरोक्ष वाणी के रूप में उपदेशित ग्रंथ जो श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त ग्रन्थ क्रमशः एक दूसरे से उत्कृष्ट और मान्य ग्रंथ हैं, परन्तु परमात्मा की प्रत्यक्ष वाणी के रूप में जो ग्रंथरत्न हमें उपलब्ध है वह सब में उत्कृष्ट है। इसलिए योग शब्द की व्याख्या और उसकी परिभाषा को प्रस्तुत करने के लिए परमात्मा की अपरोक्ष वाणी के रूप में उपलब्ध श्री गीता जी के ज्ञान का अवलम्बन किया गया है।

यहां पर प्रसंगवश एक तथ्य कहना और स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतीय आध्यात्मिक विषयों पर अनेक रचनाऐं है, जिनमें अधिकतर उपनिषदों, वेदान्त आदि भारतीय दर्शन, पुराणों तथा स्मृतियों की व्याख्या हेतु लिखे गए हैं। कुछ रचनाकारों ने हमारे मौलिक सिद्धान्तों को विकृत करने का प्रयास किया है। यह प्रयास उन्होंने अपने निजी स्वार्थ के लिए किया है। इस कारण हमारे मौलिक ग्रंथों पर जो कुभाष्य लिखे गये उसे अनेक महानुभावों का कुत्सित प्रयास ही कहा जाएगा। उनके द्वारा लिखे गए कुभाष्यों से भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की मौलिकता तो विकृत नही हुई परन्तु जनमानस में भ्रान्ति और संशय उत्पन्न हो गये। इसलिए हमें ऐसे कुभाष्यकारों का बहिष्कार करना यथेष्ट है। उचित तो यह होगा कि हमें मौलिक ग्रंथों का मूलरूप से अध्ययन करना चाहिए और उनके मूलभूत अर्थ को समझ कर उसे अपने आचरण में लाने का प्रयास करना चाहिए।

ॐ

योगदर्शन योग का विशिष्ट ग्रंथ–

महर्षि पतंजलि प्रणीत योगदर्शन योग का विशिष्ट ग्रंथ है, जिसे षड़दर्शन के भाग की मान्यता प्राप्त है। षड़दर्शन अर्थात् वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय वैशेषिक, मीमांसा में वेदान्त अर्थात् ब्रह्मसूत्र को उत्कृष्ट माना गया है। जिस पर अनेक दार्शनक विचारकों, आचार्यो ने भाष्यों का प्रणयन किया है। आचार्य शंकर का भाष्य उत्कृष्ट माना जाता है। वेदान्त दर्शन पर अनेक रचनाऐं भाष्य और टीकाओं के रूप में लिखी गयी हैं। इसी प्रकार पतंजलिकृत योगदर्शन पर भी भारतीय आचार्यो, दार्शनिकों ने, विचारकों ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया हैं जिनमें व्यास भाष्य, व्यास भाष्य पर तत्त्व वैशारदी टीका, विज्ञान भिक्षु द्वारा वार्तिक नाम की टीका तथा योगसार संग्रह, महाराज भोज कृत वृत्ति नामक ग्रंथ, आचार्य रामानन्दकृत मणिप्रभा, सदाशिवेन्द्र कृत योग सुधाकर तथा स्वामी ओमानन्द कृत पातंजलि योग प्रदीप आदि प्रमुख हैं। योगदर्शन ग्रंथरत्न सूत्ररूप में उपलब्ध है तथा चार पादों अर्थात् अध्यायों में महर्षि पतंजलि ने इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। इन चार पादो में पहला समाधि पाद है दूसरा साधनपाद है तीसरा विभूतिपाद है चौथा कैवल्यपाद है।

महर्षि पतंजलि ने योग शब्द की व्याख्या से योगदर्शन ग्रंथ का शुभारम्भ किया है और अथ **योगानुशासनम्** कहकर इस ग्रंथ को योग विषयक वर्णित करने का प्रयास किया है। महर्षि पतंजलि योग की व्याख्या में यह कहते हैं कि **योगाश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। इसका अभिप्राय यह है कि चित्त की समस्त वृत्तियां निरूद्ध हो जाए तो उसे योग कहा जाता है। चित्त की वृत्ति चिंतन है। वैसे अंतःकरण के तीन भाग माने जाते हैं, जिसे मन, बुद्धि और अहंकार कहा जाता है परन्तु मनीषियों ने चित्त को भी अंतःकरण का एक भाग माना है तथा उसे अंतःकरण चतुष्ट्य की संज्ञा दी है। चित्त की वृत्ति चिंतन है और यह ध्यान रूपी साधना का विशिष्ट अंग है।

चित्त के सम्बंध में पृथक्–पृथक् मनीषियों के पृथक्–पृथक् विचार हैं। प्रत्येक साधक को चित्त के विषय में, उसकी वृत्ति के विषय में गहनता से चिंतन करना चाहिए, क्योंकि चित्त योग का महत्वपूर्ण अंग है और महर्षि पतंजलि ने आरम्भ में ही यह कह दिया है कि चित्त की वृत्तियों के अवरोध हो जाने को योग कहते है। इस आधार पर चित्त योग का एक महत्वपूर्ण अंग है। चित्त के विषय में मनीषियों के तीन विचार हैं।

1– मन ही चित्त के रूप में है।

2– मन ही चित्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

3– मन और बुद्धि के समुच्चय को चित्त कहा जाता है।

इन उपरोक्त तीनों विचारों को साधक ध्यान में रखकर इस पर गहनता से चिंतन करें कि चित्त क्या है ? भगवद्गीता में चिंतन के प्रकरण में चित्त का अनेकों बार उल्लेख हुआ है तथा जहां पर विषद् चिंतन का विषय है वहां पर श्रीभगवान ने चित्त को ही निरूपित किया है। प्रसंगवश यहां पर एक तथ्य और कहना आवश्यक होगा कि श्रीभगवान ने मन को संयमित करने के उपाय के रूप में यह कहा

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

इसका अभिप्राय यह है कि असंयमित मन को अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता हैं महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन ग्रंथ में चित्त को नियंत्रित करने के उपाय का वर्णन किया है जो समाधिपाद नामक अध्याय के बारहवें सूत्र के रूप में है। इसमें उन्होंने यह कहा कि **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** अर्थात् चित्त की वृत्तियों को अभ्यास और वैराग्य से रोका जा सकता है। इस प्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार मन ही चित्त है। ऐसा स्पष्ट होता है। इसलिए मन ही चित्त है इस तथ्य की अवधारणा योग दर्शन के आधार पर पुष्ट होती है।

मन ही चित्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस तथ्य को समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि मन की वृत्ति संकल्प है और चित्त की वृत्ति चिंतन है। साधारण रूप से मन अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों के सम्बंध में विचार करता रहता है। यह प्रक्रिया जागृत और स्वप्न अवस्था में निरन्तर चलती रहती है। जब मन किसी विशेष विषय के बारे में, किसी विशेष परिस्थिति के बारे में, किसी विशेष क्रिया के बारे में गहनता पूर्वक चिंतन करता है तो वह चित्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस कारण मन ही चित्त के रूप में चिंतनकाल में परिवर्तित होता है। यह तथ्य समझ में आता है। मन तथा चित्त की वृत्ति भी पृथक्–पृथक् है, इसलिए मन और चित्त में पृथकता रहती है।

मन और बुद्धि के समुच्चय को चित्त कहा जाता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण देने के लिए हम श्रीगीताजी के बारहवें अध्याय के आठवें और नवें श्लोक की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जिसमें यह कहा गया है कि –

म॒येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि म॒येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।

श्रीगीता जी के उपरोक्त श्लोकों का हिन्दी भावार्थ यह है कि परमात्मा में मन को लगा दें और बुद्धि को निवेशित कर दें जिससे तू परमात्मा में ही संशयरहित निवास करेगा और यदि तू चित्त को परमात्मा में स्थिर स्थापित करने में सक्षम नहीं है तो अभ्यास योग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने की आकांक्षा करो।

श्रीभगवान के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि मन और बुद्धि के समुच्चय को चित्त कहते हैं क्योंकि उन्होंने पहले मन और बुद्धि को परमात्मा में लगा देने के तथ्य को कहा। तत्पश्चात् उन्होंने यह कहा कि अगर चित्त को परमात्मा में लगा देने में तुम समर्थ नहीं हो तो अभ्यासयोग का आश्रय ग्रहण करो। पूर्व के श्लोक में मन और बुद्धि का प्रयोग हुआ है और पश्चात् के श्लोक में चित्त पद का प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीभगवान की दृष्टि में मन और बुद्धि का समुच्चय ही चित्त के रूप में है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त की पांच वृत्तियों का उल्लेख करते हुए कहा कि–

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।। 6।।

इसका अभिप्राय यह है कि चित्त की पांच वृत्तियां हैं जिन्हें 1–प्रमाण 2–विपर्यय 3–विकल्प 4–निद्रा 5– स्मृति कहा जाता है। इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मन और बुद्धि जब समग्रता से एकाकार हो जाते हैं तो उस स्थिति में चित्त ही अवशेष रहता है। चित्त के विषय में साधकों को विचार करना चाहिए।

चित्त मानव शरीर में एक ऐसी शक्ति है जो अप्रकट होकर समग्र चिंतन कार्य का कार्य करती है। अप्रकट का अभिप्राय है कि वह स्थूल शरीर के अंगों की तरह से प्रकट नहीं है। दिखाई नहीं पड़ती है। जैसे हम अपने शरीर के अंगों, आंख, पैर, उदर, मस्तक

आदि अंगों को देखते हैं। वैसे चित्त को देखा जा पाना संभव नहीं है। शरीर के अंग व्यक्त है और चित्त अव्यक्त है। शरीर के अंग व्यक्त रहकर कार्य करते हैं तथा उनका कार्य प्रत्यक्ष प्रतीत होता है परन्तु चित्त अव्यक्त रहकर कार्य करता है और उसके कार्य का आभास मात्र किया जा सकता है। विशेष तथ्य यह है कि अव्यक्त चित्त के चिंतन के आधार पर ही समस्त व्यक्त शरीर हाथ पैर आदि कार्य करते हैं। अव्यक्त शक्ति चित्त का व्यक्त स्थूल शरीर पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। इस कारण मानव शरीर में चित्त एक विशिष्ट शक्ति है जो चिंतन का कार्य करती है।

चित्त के चिंतन के असंख्य विषय हैं अर्थात् चित्त विषयों के बारे में चिंतन कर सकता है। देखे गए, सुने सुनाए गए, कल्पना में आये, इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये गए और अनुभव में न आये हुए विषयों के बारे मे भी चित्त चिंतन कर लेता है। इन समस्त विषयों को सहजता से वृत्ति कहा जाता है। यदि इन समस्त विषयों के चिंतन का कार्य निरूद्ध हो जावे तो उस अवस्था को योग कहा जाता है। इस दृष्टि से योगी अपने समग्र सांसारिक चिंतन के विषयों को रोक देता है और वह अपने ध्येय परमात्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार का सांसारिक चिंतन नहीं करता है। इस प्रकार परमात्मा के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के विषय का चिंतन न करने वाला योगी कहलाता है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों को दो भागों में विभाजित किया है जिन्हें क्लिष्ट और अक्लिष्ट कहा जाता है। क्लिष्ट वृत्तियां हमारी योग साधना में विघ्न और बाधाएं उत्पन्न करती है और अक्लिष्ट वृत्तियां हमारी योग साधना को विकसित करती हैं तथा अपने वास्तविक शरीर के बोध की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार समग्र योग चित्त की वृत्तियों पर ही आधारित हो जाता है और महर्षि पतंजलि का यह ग्रंथ योग से संदर्भित महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें विविध विषयों का वर्णन बहुत ही विषद रूप में किया गया है तथा समाधि तक साधक को पहुंचने के मार्ग का प्रशस्तीकरण किया गया है। चूंकि यह लघु पुस्तिका योग के सम्बंध में विचार प्रस्तुत करने के लिए लिखी गई है। इस कारण महर्षि पतंजलि के योग से सम्बंधित महत्वपूर्ण तथ्यों को योग दर्शन के भाष्य के समय विस्तार से वर्णित किया जाएगा और उसका समन्वय श्री गीता जी के ज्ञान से होगा।

ॐ

1– योग सिद्धि हेतु आरम्भिक अवधारणाएं :–

पूर्वोक्त प्रकार से योग के सम्बंध में कुछ विशिष्ट परिभाषाएं प्रस्तुत की गई हैं जिनमें एक भी परिभाषा का व्यवहारिक रूप से आचरण करने से योग का साधक योग की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रयास यह होना चाहिए कि प्रत्येक परिभाषा को स्पष्ट रूप से समझा जाऐं तथा समझ कर उसको व्यवहारिक रूप से आचरित किया जाए। प्रयोगात्मक और कार्यविधि को समझकर जब हम योग की परिभाषा को व्यवहार में ले आते हैं तो उसकी पूर्णतः से योग की सिद्धि हो जाती है। योग की सिद्धि के लिए प्रारम्भिक स्तर पर कुछ अवधारणाऐं करनी पड़ती हैं, जिन्हें प्रस्तुत किया जाना परमावश्यक है। जिस प्रकार किसी परीक्षा को उत्तीर्ण करने हेतु हमें सतत् अध्ययन करना पड़ता है तथा परीक्षा विषय की आवश्यक पुस्तकें और उसके शिक्षण की सम्यक् व्यवस्था करनी पड़ती है उसी प्रकार योग की सिद्धि के लिए हमें प्रारम्भिक स्तर पर कुछ कार्य करने पड़ते हैं। जिससे योग की सिद्धि सहज हो जाती है। कुछ प्रारम्भिक अवधारणाओं का वर्णन इस स्थल पर प्रस्तुत किया जा रहा है, जिन्हें हमें दृढतापूर्वक मानना पड़ता है क्योंकि किसी भी अवधारणा को दृढ़तापूर्वक मान लेने से हमारा सिद्धान्त दृढ़ रहता है और उसी आधार पर चलकर हम सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। योग सिद्धि हेतु कुछ आरम्भिक अवधारणाएं निम्न प्रकार हैं–

(क) परमात्मा के द्वारा यह सृष्टि उपार्जित की गई हैः–

यह असीमित ब्रह्मांड जिसकी सीमा आज तक पाया जा पाना संभव नहीं हुआ है उस ब्रह्मांड का निर्माण परमात्मा के द्वारा किया गया है। उस परमात्मा ने ही अपनी सर्व शक्तिमान स्थिति को प्रकट करके इस समग्र ब्रह्मांड की रचना की है। इस ब्रह्मांड में कितने लोक लोकान्तर हैं ? कितने ग्रह उपग्रह हैं इसका सही सही आंकलन अभी तक मानव ने नहीं कर पाया है। हम रात्रि के समय खुले आकाश में असंख्य नक्षत्रों को देखते हैं वे सब हमारी पहुंच से बाहर हैं। मात्र हमारी दृष्टि में ही प्रतीत होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि उन समग्र नक्षत्रों को परमात्मा ने ग्रह और उपग्रह के रूप में बनाया है। वे नक्षत्र हमारी पृथ्वी से लाखों मील दूर हैं और हम उस तक आज भी पहुंच नहीं सके हैं।

इस पृथ्वी को जिस पर हम रह रहे हैं जब देखते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि इस पृथ्वी पर ऐसी विशाल रचनाएं किसी के द्वारा कभी तो अवश्य की गई होगी जो आज हमारे सामने वृहद् रूप में उपस्थित है। यह विशाल समुद्र जो पृथ्वी का लगभग तीन चौथाई भाग घेरे हुए है इस विशाल जल के भंडार का निर्माण किसी ने तो अवश्य किया

होगा। आज तक हमारी संज्ञानता में जो कुछ भी है उससे यह कहा जाता है कि यह सृष्टि लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व हुई थी परन्तु लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व से समग्र मानव जाति उस विशाल जल भंडार का उपयोग उपभोग कर रही है परन्तु उसका समापन आज तक नहीं हो पाया है। इसी प्रकार की अन्य रचनाएं भी इस पृथ्वी पर हमारे समक्ष उपलब्ध हैं जैसे विशाल पर्वत और पहाड़। विशाल नदियां। वनों की विशाल श्रृंखलाएं तथा बहुत बृहद् आकार में फैला हुआ मरुस्थल अर्थात् रेगिस्तान। इन सब रचनाओं को किसने बनाया होगा? इस पर जब हम गहनता पूर्वक विचार करते हैं तो पाते हैं कि वह सत्ता जिसने इन सब रचनाओं को बनाया होगा वह वस्तुतः बहुत ही विलक्षण सत्ता है।

ऐसी मान्यता समग्र मानव जाति की है कि इस विशालतम ब्रह्मांड का निर्माण एक सत्ता के द्वारा किया गया है और उस सत्ता को ही परमात्मा कहा जाता है। वस्तुतः ब्रह्मांड जैसी विशालतम रचना को देखकर परमात्मा की सत्ता का और उसकी स्थिति का हमें सहजतापूर्वक अनुमान होता है। कभी–कभी कुछ कतिपय विद्वान कहे जाने वाले मनुष्य उस परमात्मा के आकार प्रकार और गुण आदि के बारे में कुछ चर्चा करने लगते हैं और उसे अपनी बुद्धि के अनुसार बांधने का प्रयास करते हैं। क्या मनुष्य की बहुत तुच्छ बुद्धि उस परम असीम सत्ता को अपनी बुद्धि से बांध सकती है ? ऐसा कदापि संभव नहीं है। परमात्मा की इस विशालतम ब्रह्मांड रचना को देखकर और हम अपनी बुद्धि के कार्य को देखकर यदि उसके आकार प्रकार को विनिश्चत करने का प्रयास करते हैं तो यह निरा मूर्खतापूर्ण कार्य ही है। हमें कभी भी उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के आकार प्रकार को विनिश्चित करने का कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि जब हम उस परमात्मा के आकार प्रकार को विनिश्चत करने का प्रयास करते हैं तो वह परमात्मा हमारे इस कार्य को देखकर अत्यंत दुखी होता है। वस्तुतः उस सर्वशक्तिमान परमात्मा को हम अपनी बुद्धि और विचारों से कदापि नहीं बांध सकते हैं। हमें और अपने को विद्वान समझने वाले मनीषियों को इस विषय पर बहुत गहनता से विचार करना चाहिए। इस विशालतम ब्रह्मांड का निर्माण उस सर्वशक्तिमान सत्ता ने किया है तथा वह आज से करोड़ों वर्ष पूर्व इस विशालतम ब्रह्मांड को बनाकर हमारे लिए पृथ्वीलोक की रचना की, जिस पर हम रह रहे हैं। योग की साधना की आरम्भिक स्थिति में यह भाव दृढ़ हो जाना चाहिए कि उस एक मात्र सर्वशक्तिमान सत्ता ने इस विशालतम ब्रह्मांड की रचना की है। इस तथ्य को दूसरे शब्दों में हम यह कहें कि उस परमात्मा ने ही सृष्टि का निर्माण किया है। यह अवधारणा योग के आरम्भिक साधक को दृढ़ कर लेनी चाहिए तथा संशय का समापन रखना चाहिए।

(ख) परमात्मा का ब्रह्मांड पर नियंत्रण है :–

परमात्मा ने इस विशालतम ब्रह्मांड को बनाकर रचकर उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया है। हम जो भी ग्रह–उपग्रह देखते हैं और जो हमारी दृष्टि के बाहर हैं उन सब पर परमात्मा का पूर्ण नियंत्रण है। निर्माण के उपरान्त परमात्मा का पूर्ण नियंत्रण रहना ही उसकी सत्ता का होना है। सूर्य का समय से उदय होना दिनभर प्रकाश देना और संध्याकाल में अस्त हो जाना। चन्द्रमा का विभिन्न कलाओं के रूप में प्रकट होना मौसम का समयानुकूल परिवर्तित होना आदि आदि का अनुभव हम नित्य निरन्तर करते हैं। समस्त प्राणियों की मृत्यु और उनका उद्‌भव अर्थात् प्रकट होना भी समयानुकूल चलता रहता है। इस प्रकार उस परमात्मा ने इस समग्र ब्रह्मांड पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया है। वह नियंत्रण सृष्टि के आदिकाल से ही स्थापित है। वर्तमान में भी है और भविष्य में भी स्थापित रहेगा। किसी भी क्षण उस परमात्मा का इस ब्रह्मांड से नियंत्रण समाप्त नहीं होता है। हम सभी प्राणी मानव मात्र उस परमात्मा के नियंत्रण में ही अपना जीवन यापन कर रहे हैं तथा जीवनरूपी यात्रा का समापन कर रहे हैं। हम धीरे–धीरे मृत्यु की ओर बढ़ते जा रहे हैं। यह मृत्यु समय से आती है और हमें इस जगत से अपने साथ ले जाती हैं। इस प्रकार हमारी दृष्टि जहां तक जाती हैं वहां तक हमें परमात्मा का नियंत्रण प्रतीत होता है। योग के प्राथमिक साधक को यह अवधारणा पुष्ट रखनी चाहिए कि उस सर्व शक्तिमान परमात्मा का इस ब्रह्मांड पर नियंत्रण है। यह अवधारणा दृढ़ रहनी चाहिए तथा इसमें संशयरहित होकर हमें उसका पालन करना चाहिए।

(ग) ब्रह्मांड में परमात्मा की व्यवस्था संचालित है :–

जिस प्रकार एक राष्ट्र की व्यवस्था के राष्ट्राध्यक्ष की नियुक्त होती है और उसके द्वारा अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं संचालित होती रहती हैं। पृथक्–पृथक् के अधिकारी तथा अनेक विभाग इस व्यवस्था के लिए निर्मित किये जाते हैं। हम जगत में जो व्यवस्था देख रहे हैं उस व्यवस्था की ही तरह से ब्रह्मांड में भी परमात्मा की व्यवस्था संचालित है। उसकी यह व्यवस्था हमें प्रतीत नहीं होती परन्तु हमें यह समझना चाहिए कि व्यवस्था प्रतीत न होने के बावजूद भी वह इस ब्रह्मांड के संचालन को अपने हाथ में लिए हुए है। जिस प्रकार इस जगत में अनेक अधिकारीगण इस जगत की व्यवस्था को देखते हैं उसी प्रकार इस समग्र ब्रह्मांड की व्यवस्था को अनेक देवगण देखते हैं। वे अप्रत्यक्ष, अव्यक्त, अप्रकट, रहकर विश्व की व्यवस्था को संचालित किये हुए हैं। योग के प्राथमिक साधक को यह अवधारणा बहुत पुष्ट रखनी चाहिए कि इस समग्र ब्रह्मांड पर परमात्मा की व्यवस्था स्थापित

है। जब योग का साधक इस तथ्य को अपने अंतःकरण में रखता है तो यह समग्र विश्व उस परमात्मा की व्यवस्था में संचालित है तो वह स्वयं भी परमात्मा की व्यवस्था के अधीन रहने का पूर्ण प्रयास करता है। हम किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आचार्यो और गुरूजनों के आश्रय में रहते हैं तथा विनम्रतापूर्वक उनसे प्रश्न करके हम वांछित ज्ञान को अर्जित करने का प्रयास करते हैं। आचार्यो और गुरूजनों का हम पर नियंत्रण रहता है और उनकी व्यवस्था के अनुकूल ही हमें चलना पड़ता है। इसी प्रकार योग की साधना में हमें यह अवधारणा पुष्ट रखनी पड़ती है कि यह समग्र जगत उस परमात्मा की व्यवस्था में संचालित है और हम भी उसी परमात्मा की व्यवस्था में रह रहे हैं। इस अवधारणा से हमें स्वेच्छाचारिता अर्थात् मनमाने ढंग से आचरण न करने पर नियंत्रण रहता है।

(घ) हम उस परमात्मा का अंश हैं :–

परमात्मा परम चेतन सत्ता है और उसका अंश जीव भी चेतन है। उस परम चेतन सत्ता ने अपने अंश को सूक्षम रूप से समस्त प्राणियों में डाल दिया है, जिससे समग्र प्राणी चेतन हो गए हैं। उस परमात्मा ने अपने अंश को जब प्राणियों में प्रकट किया तो जड़ शरीर क्रियाशील हो गया और अनेक प्रकार की चेष्टाएं करने लगा। जैसे मृत्यु के उपरान्त मानव शरीर जड़ हो जाता है और अक्रिय होकर चेष्टाविहीन हो जाता है। तब उस मृत शरीर को जड़ मानना चाहिए क्योंकि उसमें चेतन तत्त्व का अभाव हो चुका है वह जो चेतन तत्त्व है वह परमात्मा का अंश है। कुछ लोग उस चेतन तत्त्व को परमात्मा का अंश नहीं मानते हैं। परन्तु जीव परमात्मा का अंश है अथवा नहीं है इस तथ्य को मनुष्य विनिश्चित नहीं कर सकता है। हमारे पास ऐसा कोई ज्ञान,विधि, प्रक्रिया नहीं है जिससे हम यह स्पष्ट रूप से कह सकें कि जीव परमात्मा का अंश है अथवा नहीं है। इस कारण इस विषय में हमें शास्त्रों में उल्लिखित तथ्यों को मानना पड़ता है। भगवद्गीता का यह स्पष्ट मत है कि जीव परमात्मा का अंश है और वह अनादि है। इसलिए भगवद्गीता के सिद्धान्त के अनुसार यदि हम यह मानते हैं कि जीव उस परमात्मा का अंश है तो यह शास्त्रों के सिद्धान्त के अनुसार सम्यक् विनिश्चय होगा।

वस्तुतः जीव बहुत विलक्षण तत्त्व है। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख आता है कि जो जीव मानव में है वही अनेक पशु पक्षी कीट आदि सभी में हैं। सभी प्रकार के प्राणियों में जो जीव है उसमें कोई अंतर नहीं है। इसीलिए सभी प्राणियों को बुद्धिमान पुरूष अपना सहधर्मी मान लेते हैं और वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा अपने सुहृद लोगों से किया जाता है। जीव परमात्मा का अंश है इस बारे में बहुत गहनतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट

होता है कि उसका जो कार्य है अर्थात् उसकी जो वृत्ति है वह बहुत ही विलक्षण है। जैसे मानव शरीर में यह जीव रहता है तो समग्र मानव शरीर के अंगों को क्रियाशील रखता है। शरीर के जो बाह्य अंग हैं जैसे हाथ, पैर, आंख, कान, नाक आदि भी इसी अति सूक्ष्म जीव के कारण क्रियाशील रहते हैं और हमारे जो आन्तरिक अंग हृदय, फेफड़े, गुर्दा आदि भी हैं वे भी इसी जीव के कारण ही क्रियाशील रहते हैं। यह जीव माता के गर्भ से शरीर के साथ आ जाता है और मृत्युकाल तक निरन्तर रहता है। मनुष्य की जब मृत्यु हो जाती है तथा जीव इस मृत शरीर से बाहर निकल जाता है फिर भी मृत शरीर में कुछ गर्मी रहती है। यह गर्मी उसी जीव के कारण रहती है क्योंकि जीव ने इस शरीर को बहुत लम्बे समय तक क्रियाशील रखा है।

हम यदि प्राथमिक स्तर के योग के साधक हैं तो हमें यह अवधारणा पुष्ट रखनी चाहिए कि हमारे शरीर में जो चेतन तत्त्व जीव के रूप में है वह परमात्मा का ही एक अंश है। यदि हमारी पृष्ठभूमि किसी मत विशेष से प्रभावित हो और उस मत विशेष में जीव को परमात्मा का अंश न माना जाता हो तो भी हम अपने मतानुसार उस जीव को विलक्षण मान सकते हैं, क्योंकि वस्तुतः जीव विलक्षण है और एकमात्र इस समग्र जगत में चेतन तत्त्व है जिससे यह समग्र जगत धारण किया जाता है। योग के प्राथमिक साधक को यह धारणा पुष्ट रखनी चाहिए कि उस जीव से ही हम चेतन हैं और हमें उस जीव का साक्षात्कार तथा दर्शन करना है। वह प्रकाश स्वरूप है। उस प्रकाश का भी हमें दर्शन करना है क्योंकि जीव के दर्शन को आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है तथा यह योग की सिद्धि की प्राथमिक स्थिति है जो हमें परमात्मा के निकट पहुंचा देती है, इसलिए जीव को हमें वस्तुतः विलक्षण मान कर अपनी योग साधना आरम्भ करनी चाहिए और उचित होगा कि हम उस जीव को परमात्मा का अंश मान कर इस अवधारणा को पुष्ट कर लें।

(ङ) प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मो का फल अवश्यक भोगता है :–

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य कर्म अवश्य करता है। हम किसी भी क्षण कर्मो के सम्पादन से अपने को मुक्त नहीं रख सकते। मानव शरीर की रचना प्रकृति के द्वारा ऐसी ही बनायी गई है जिसमें हम प्रकृति के अधीन रहकर कर्म करने को बाध्य हैं। प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है परन्तु उन कर्मो के प्रकार में अंतर रहता है। इसलिए शास्त्रों ने तीन प्रकार के कर्मो की व्याख्या की है जिन्हें 1–शुभ 2–अशुभ 3–शुभाशुभ कर्म कहा जाता है। मनुष्य मात्र जो भी कर्म करता है वह उपरोक्त तीन ही प्रकार के कर्म कर सकता है। हम सभी यह विनिश्चित करने में असमर्थ रहते हैं कि हमारा यह कर्म शुभ है कि अशुभ है

अथवा शुभाशुभ है। इस तथ्य के विनिश्चय में अनेक विद्वान पुरूष भी भ्रमित हो जाते हैं इसीलिए यह कहा जाता है कि **कर्म की गति गहन है।** इस तथ्य का यही अभिप्राय है कि कर्मो में अंतर के बोध अर्थात् ज्ञान को सम्यक् रूप से जाना जा पाना असंभव है।

प्रत्येक मनुष्य कर्म का विनिश्चिय अपनी बुद्धि के अनुसार ही करता है। अर्थात् हम जो भी कर्म करते हैं वह पहले समग्रता से बुद्धि के द्वारा निर्धारित और विनिश्चत किये जाते हैं। तत्पश्चात् कर्मो का क्रियान्वयन होता है। बुद्धि के द्वारा जब तक कर्मो का विनिश्चय नहीं होता है तब तक शरीर के द्वारा इसका क्रियान्वयन भी संभव नहीं हो पाता है। इसलिए कर्मो के क्रियान्वयन में बुद्धि ही आधारभूत तत्त्व है। मानव जो भी शुभ और अशुभ कर्म करता है उनका विनिश्चिय शास्त्रों के द्वारा होता है और शास्त्रों के द्वारा ही कर्मो के फल का भी विनिश्चय होता है। अर्थात् शास्त्र ही यह तय करते हैं कि अमुक कर्म शुभ है, अशुभ है अथवा शुभाशुभ है और ऐसा विनिश्चिय करके वह हमारे लिए कर्मफल की व्यवस्था करते हैं। यह परमात्मा की व्यवस्था बहुत पारदर्शी है इसमें कहीं भी रंच मात्र कोई भी त्रुटि नहीं है। इसलिए योग के प्राथमिक साधक को यह अवधारणा करनी पड़ती है कि हम जो भी कर्म कर रहे हैं उसका परिणाम हमें परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार अवश्य ही प्राप्त होगा। यह अवधारणा कर लेने पर पहले तो हम शुभ अशुभ कर्मो के अंतर को शास्त्र के अनुसार जानने का प्रयास करते हैं तत्पश्चात् अशुभ कर्मो के परित्याग तथा शुभ कर्मो के सम्पादन के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इसलिए योग के प्राथमिक साधक को यह अवधारणा करनी पड़ती है कि प्रत्येक मनुष्य को कर्म के फलों को अवश्य भोगना पड़ता है।

(च) परमात्मा की हम पर सतत दृष्टि है :–

परमात्मा अपने साधनों से हम पर निरन्तर दृष्टि रखे हुए है। मनुष्य जो भी कर्म करता है। उन कर्मो पर परमात्मा की दृष्टि पूरी तरह से रहती है। हम जब कर्मफलों के सम्बन्ध में यह विचार करते हैं कि हमें हमारे प्रत्येक कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है तो इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि जब कर्मो का अंकन होगा तब ही हमारे कर्मफलों का सम्यक् निर्धारण ही होगा। इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य हमें स्पष्ट रूप से समझने चाहिए। पहली बात तो यह है कि हम जो भी कर्म करते हैं तीन ही प्रकार से करते हैं जिन्हें मानसिक, वाचिक और कायिक कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के कर्मो पर परमात्मा की सम्यक् दृष्टि रहती है। हमारे मन में जो विचार आया उसे भी परमात्मा जानता है। हमने उस विचार के अधीन जो कुछ वाणी से कहा उस पर भी परमात्मा की दृष्टि रहती है और हमने जो कुछ अपने इन्द्रियों और शरीर से कर्मो का सम्पादन किया उस पर भी परमात्मा

की निश्चित दृष्टि रहती है। यह परमात्मा की व्यवस्था बहुत अचूक और पूर्णरूपेण प्रभावशाली है।

जैसे हम सभी रात्रि में देखने में अक्षम रहते हैं। अर्थात यदि प्रकाश न हो तो हमारी आंखों में वह शक्ति नहीं है कि हम संसार को देख सकें। इसलिए हमें संसार देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश के साथ हमारी आंखें सांसारिक दृश्यों को देखने में सक्षम होती है। परन्तु परमात्मा अंधकार में और प्रकाश में प्रत्येक स्थिति में हमारे कर्मो को देखता रहता है। इसकी दृष्टि रात्रि में भी हमारे कर्मो पर रहती है और दिन में तो रहती ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने हमारे शरीर में ही ऐसी व्यवस्था कर दी है जिससे हमारे शरीर में वह गुप्त व्यवस्था हमारे प्रत्येक कर्मो का लेखा जोखा करके परमात्मा को सूचित करती है। इसलिए उस परमात्मा की हम पर निरन्तर दृष्टि है और शास्त्रों में ऐसा उल्लेख आता है कि परमात्मा के द्वारा नियुक्त चौदह शक्तियां हम पर सम्यक् रूप से अपनी दृष्टि रखती हैं। इन शक्तियों के नाम है 1–सूर्य 2–अग्नि 3–आकाश 4–वायु 5– इन्द्रियां 6– चन्द्रमा 7– संध्या 8– रात्रि 9– दिवस 10– दिशाएं 11– जल 12– पृथ्वी 13– काल 14– धर्म। उक्त समस्त शक्तियां हमारे कार्यो पर निरन्तर अपनी दृष्टि बनाये हुए हैं। योग के प्राथमिक साधक को यह अवधारणा पुष्ट कर लेनी चाहिए कि परमात्मा की हम पर निरन्तर दृष्टि है और हम उसकी दृष्टि से कदापि नहीं बच सकते।

(छ) हमारे प्रत्येक कार्य का अंकन होता है :–

हम सभी ने संसार में स्थित अनेक कार्यालयों की गतिविधि का यदि अवलोकन किया होगा तथा यह देखा होगा कि वहां पर प्रत्येक कार्य का अंकन किया जाता है। जैसे बैंकों में प्रत्येक लेनदेन का अंकन होता है और प्रत्येक धन की गणना होती है। इसी प्रकार हमारे प्रत्येक कर्म का अंकन होता है। यह विशिष्ट बात है कि हम जिन कर्मो का सम्पादन पृथ्वी पर करते हैं उन कर्मो का अंकन किसी अन्य लोक में होता है। मनुष्य शरीर में ऐसी तकनीक परमात्मा के द्वारा निश्चित कर दी गई है जो हमारे प्रत्येक कर्म का विवरण परमात्मा को प्रेषित करती है। प्रातः जब हम जागते हैं तो इसे जागृत अवस्था कहा जाता है। इस जागृत अवस्था के साथ हमारे कर्मो का शुभारम्भ हो जाता है और रात्रि तक अर्थात् हमारे सोने तक हमारे द्वारा कर्मो का सम्पादन किया जाता है। मनुष्य जितना भी कर्मो का सम्पादन करता है उन समस्त कर्मो का अंकन परमात्मा की व्यवस्था में निरन्तर हुआ करता है।

आप विचार करें कि इस संसार में असंख्य मनुष्य हैं और उन असंख्य मनुष्यों की असंख्य क्रियाविधियां हैं। प्रत्येक मनुष्य की कार्य पद्धति पृथक्–पृथक् प्रकार की है और पृथक्–पृथक् प्रकार की क्रियाविधि का अंकन परमात्मा की व्यवस्था में पारदर्शी तरीके से होता है। इसमें कोई त्रुटि नहीं है। हम कोई भी कर्म करें तो वह परमात्मा की दृष्टि में रहता है और उसे परमात्मा की व्यवस्था में अंकित भी किया जाता है। जैसे हम यह देखते है कि किसी विशेष स्थान पर कुछ कैमरे लगाये जाते हैं जो प्रत्येक आने जाने वाले व्यक्ति की गतिविधि पर निगाह रखते हैं और जो भी गतिविधयां होती हैं उन सबका अंकन विशेष व्यवस्था में होता रहता है। उसी प्रकार परमात्मा भी हमारे समस्त कार्य कलापों को अंकित करता है। योग साधना के प्राथमिक साधक को यह अवधारणा पुष्ट कर लेनी चाहिए कि हमारे द्वारा जो भी गतिविधि की जा रही है वह परमात्मा की व्यवस्था में अंकित हो रही है तथा परमात्मा के द्वारा जिन शक्तियों को जिस कार्य में लगाया गया है वे सबकी सब शक्तियां अपनी कार्य सम्यक्रूपेण कर रही हैं। योग साधक जब यह धारणा पुष्ट कर लेता है कि हमारी समस्त क्रियाओं का अंकन हो रहा है तब वह बहुत सजग रहकर परमात्मा का चिंतन करता है और शीघ्रता से सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

(ज) जगत के सम्पूर्ण भोग और भोग्य पदार्थ क्षणिक हैं :–

इस संसार में मनुष्य को किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा क्रिया में प्रियता का आभास होता है तभी वह वस्तु व्यक्ति अथवा क्रिया की ओर आकर्षित होता है। मनुष्य का यह आकर्षण संसार के प्रति अच्छेपन के कारण है। अर्थात् हमें जिन क्रियाओं में, जिन वस्तुओं में जिन व्यक्तियों में सुख का आभास होता है अथवा सुख मिलने की संभावना होती है उन वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओं का हम संयोग चाहते हैं और यदि उन वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओं का हमें वियोग हो तो हमें दुःख और शोक का आभास होता है। यह दुःख और शोक का आभास हमें क्यों होता है ? क्योंकि हमें वस्तु व्यक्ति और क्रियाओं में सुख का आभास हुआ था। यदि न हुआ होता तो वियोग में दुःख का आभास कदापि नहीं होता।

आप एक सजग मनुष्य की तरह से यदि ध्यान देंगे तो आप पायेंगे कि इस जगत में जहां तक भी हमारी दृष्टि जाती है वहां तक सांसारिक मोहकता, आनन्द, मधुरता से परमात्मा ने इस जगत को परिपूर्ण कर दिया है। एक से बढ़कर एक भोग, आनन्दप्रद वस्तुएं, कल्पना से भी अधिक सुन्दरता इस जगत में प्रदान की है। जगत को एक से एक बढ़कर मोहक, आकर्षक वस्तुओं से परिपूरित कर दिया है और वहीं दूसरी ओर मनुष्य को पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन प्रदान किया है, जो उन भोगों को

अनुभव करने में समर्थ है। यदि मनुष्य में समर्थता न होती तो भोगों की सार्थकता ही समाप्त हो जाती। मनुष्य जीवनपर्यंत सांसारिक भोगों में फंसा हुआ अंत में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह एक सामान्य मनुष्य के जीवन की जीवंत कहानी है जैसे एक मक्खी शहद में मिठास ले जाती है और उसमें फंसकर अपना जीवन समाप्त कर लेती है। वैसी ही कुछ स्थिति मनुष्य की भी है। वह अनेक प्रकार के सांसारिक भोगों में फंसकर अपना विनाश कर लेता है परन्तु ये समग्र सांसारिक भोग क्षणिक हैं। ऐसी अवधारणा योग के साधक मनुष्य को करनी पड़ती है कि हमें इन सांसारिक प्रियता और अच्छेपन में नहीं फंसना है वरन् हमें परमात्मा की ओर उन्मुख होना है। संसार में जो प्रियता और अच्छापन है वह सीमित समय के लिए है। योग के साधक में जब यह धारणा पुष्ट हो जाती है तो वह पूरी शक्ति से परमात्मा की ओर बढ़ता है।

(झ) भोग तथा भोग्य पदार्थो के प्रति घृणादृष्टि :–

विचारशील मनुष्य यह विचार अवश्य करता है कि मानव जीवन का क्या उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? इसी प्रकार विचारशील मनुष्य यह भी विचार करता है कि हमें जो मानव जीवन प्राप्त हुआ है। वह क्या है? और परमात्मा ने हमें मानव जीवन क्यों दिया है? यह विचार तमोगुण और रजोगुण से आवृत मनुष्य नहीं कर सकता है। जब तम और रज गुण दब जाते हैं तथा सत्वगुण प्रबलता की ओर बढ़ता है तब ही मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य के बारे में विचार करता है।

सत्वगुण की प्रबलता में यह विनिश्चय होने लगता है कि इस मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की अनुभूति करना है और दूसरा अन्य कोई उद्देश्य हमारे जीवन का नहीं है। वैसे शीघ्र यह विनिश्चय नहीं हो पाता है और जब तक इसी तथ्य का निश्चय नहीं होता है तब तक उसको क्रियान्वित किये जाने का प्रयास भी नहीं होता है। इस कारण विनिश्चय प्रथम कार्य है और जब यह विनिश्चय हो जाता है कि हमारे जीवन का उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है तो हम उसकी प्राप्ति के लिए यत्न भी करते हैं इसलिए साधक को यदि योगपथ का अनुकरण करना है तो उसे यह अवधारणा करनी पड़ती है कि मानव जीवन का उद्देश्य एक मात्र परमात्मा का साक्षात्कार है। परमात्मा की प्राप्ति के विनिश्चय के पश्चात् यदि हम उधर बढ़ना चाह रहे हैं अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के कार्य का अनुकरण करना चाह रहे हैं तो हमें सांसारिक भोगों का अवश्यमेव परित्याग करना पड़ेगा और यह परित्याग भी विनिश्चय से होता है। जब तक सांसारिक भोगों के प्रति मनुष्य के मन में घृणा बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है तब तक सांसारिक भोगों का और भोज्य पदार्थो का परित्याग नहीं होता है।

किसी वस्तु को जब हम त्यागते हैं तो उसके बारे में घृणा बुद्धि कर लेते हैं अथवा कतिपय कारण से किसी वस्तु या व्यक्ति के बारे में घृणा हो जाती है तभी हम उसका परित्याग करते हैं। जैसे हमें अपने किसी परिजन, व्यवहारी, सम्बंधी, इष्ट मित्र से किसी कारण घृणा हो जावे तो उसे त्यागने का उससे सम्बंध समाप्त करने का हम प्रयास करते हैं। जब तक घृणा नहीं होती तब तक हम उसे त्यागते नहीं हैं। इसी प्रकार सांसारिक भोगों से घृणा करके परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। इसलिए योग के साधक को प्राथमिक अवधारणा, सांसारिक भोगों के प्रति घृणा बुद्धि रखकर करनी पड़ती है और यह विचार पुष्ट करना पड़ता है कि सांसारिक भोग हमारे लिए उचित नहीं हैं। हमारे विनाश का कारण हैं।

(ञ) परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रयत्न हमारा कर्तव्य है :–

साधक को यह अवधारणा दृढ़ कर लेनी चाहिए कि परमात्मा की प्राप्ति करना ही हमारा परम उत्कृष्ट कर्तव्य है। जैसे हम बाल्यावस्था से शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ करते हैं तथा युवावस्था तक आते आते हम किसी विषय के पारंगत विद्वान हो जाते हैं इसलिए पारंगत विद्वान बनने हेतु हमें अनेक वर्षो तक लम्बी साधना करनी पड़ती है। हम वैसे ही अनायास किसी विद्या के विद्वान नहीं बन सकते। जब एक विद्या के विद्वान बनने के लिए हमें सतत वर्षो तक अध्ययन करना पड़ता है साधना करनी पड़ती है तो परमात्मा की प्राप्ति हेतु हमें कितनी साधना करनी पड़ेगी ? उसका हम सहज अनुमान लगा सकते हैं। परमात्मा की अनुभूति कोई सामान्य कर्म नहीं है अत्यंत दुष्तर कर्म है जिसके लिए हमें निरन्तर कार्य करना पड़ता है और कर्म करने की अवधारणा पुष्ट रखनी पड़ती है।

परमात्मा एक अव्यक्त सत्ता है। वह संसार की वस्तुओं की तरह से व्यक्त नहीं है जैसे हमें किसी पहाड़ पर चढ़ना हो तो हमारे सम्मुख पहाड़ होता है और उसकी ऊंचाई हमें प्रतीत होती है। पहाड़ हमें दीखता है और हम उस पर चढ़ने का प्रयास करते हैं। पहाड़ की ऊंचाई व्यक्त है और हमारा प्रयास भी व्यक्त रहता है, प्रतीत होता है, हमें दीखता है। हमारा लक्ष्य प्रतीत होने पर हम उसे प्राप्त करने में उत्साह रखते हैं कि अब हम कितनी ऊंचाई पर हैं और अब हमें इतनी ऊंचाई तय करनी है। इसी प्रकार जगत के अन्य कार्य भी व्यक्त रहते हैं। प्रतीत होते हैं और हमें यह ज्ञात रहता है कि अब इस प्रकरण में जिसके लिए कि हम प्रयत्नशील हैं अभी और कितना कार्य करना पड़ेगा? जैसे हम कोई भवन का निर्माण करते हैं तो भवन निर्माण के सम्बंध में हमें यह ज्ञात रहता है कि अभी भवन का निर्माण कितना अधूरा है? इसके लिए हमें और कितना प्रयास करना

पड़ेगा। हम उतना प्रयास करके भवन निर्माण के कार्य को पूरा कर डालते हैं। इस प्रकार सांसारिक कार्य हमें प्रतीत होते हैं। दीखते हैं और उसके लिए प्रयास भी प्रतीत होता है दीखता है,परन्तु परमात्मा के लिए ऐसी व्यक्त स्थिति नहीं है जैसी की संसार के लिए है।

परमात्मा की प्राप्ति करना एक अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति का कार्य है। अव्यक्त सत्ता हमें प्रतीत नहीं होती है। दीखती नहीं है। यह योग के साधक के लिए संशय का विषय रहता है। परमात्मा हमारी साधना में कितनी दूर है? हम उसके कितने नजदीक पहुंच चुके हैं? यह तथ्य ज्ञात नही हो पाता है। हमारी साधना चूंकि अव्यक्त सत्ता के लिए होती है इसलिए साधना का जो फल है वह व्यक्त नहीं होता है। उसकी पूर्णतः की प्रतीति हमें नहीं होती है। हम अपनी साधना से यह ज्ञात नहीं कर सकते हैं कि हमें वह कब प्राप्त होगा? यही योग साधना की अनिश्चितता है, कठिनता है और दुष्तरता है।

हम यदि जलयान से समुद्र के द्वारा दूर देश की यात्रा करें और हम दूर देश के बारे में कोई ज्ञान न रखते हैं तो जलयान में तरह–तरह की कल्पनाएं स्वतः ही विचार में आती हैं। हम ऐसा विचार करते हैं कि जिस देश में हम जा रहे हैं वह इस प्रकार का होगा। ऐसा विचार और कल्पना इस कारण होती है क्योंकि हमने उस स्थान का कभी दर्शन किया है परन्तु धीरे–धीरे जब हम उस स्थान के निकट आते जाते हैं तो चालक से यह ज्ञात कर सकते हैं कि अब वह स्थान कितनी दूर है? भले ही वह हमें प्रतीत नहीं होता है? परन्तु ऐसा परमात्मा के विषय में नहीं है। हम उस अव्यक्त सत्ता के बारे में नितान्त अज्ञानी हैं। यहां पर परमात्मा की प्राप्ति का वैसा प्रकरण नहीं है जैसा कि संसार की प्राप्ति का है। इसलिए हमें अथवा योग के साधक को यह अवधारणा निरन्तर पुष्ट रखनी पड़ती है कि हमें परमात्मा का साक्षात्कार करना है, क्योंकि यही हमारे जीवन का परम उद्देश्य और कर्तव्य है। इस प्रकार की अवधारणा हमारी योग साधना की सिद्धि में विशेष लाभप्रद होती है।

2– योगारूढ़ होने की इच्छा वाले साधक का बाह्य व्यवहार :–

जो मनुष्य योग पर आरूढ होने की इच्छा रखता है उसे बाह्य व्यवहार और जगत के प्रति चेष्टा, शरीर के क्रियाकलापों को भी नियंत्रित करना पड़ता है। योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले साधक को स्वयं को संयमित करना पड़ता है। एक सामान्य मनुष्य का और एक साधक का व्यवहार पृथक्–पृथक् होता है। जिस प्रकार यदि हम संसार में किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयास करते हैं तो हमें उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए

विशेष कर प्रयास करना पडता है और कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। यह सबका सब संसार में चलता है। उसी प्रकार योग पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले साधक को जगत के व्यवहार के प्रति सचेत रहकर क्रियाएं करनी पड़ती हैं। हम यदि योग पर आरूढ होना चाहते हैं तो कुछ बिन्दुओं पर दृष्टि रखें। इन बिन्दुओं को इस स्थान पर उद्धृत किया जा रहा है–

(क) जगत की क्रियाओं को उदासीनत् भाव से देखना :–

जगत में अनेक प्रकार की क्रियाएं हो रही हैं। जगत की समग्र क्रियाओं को वर्गीकृत किया जा पाना संभव नहीं है। जगत में जो क्रियाएं हो रही हैं उनमें व्यक्ति का कोई सहयोग नहीं रहता है। अव्यक्त सत्ता जिसे हमें प्रकृति कह सकते हैं समस्त क्रियाओं को सम्पादित करती है और वे क्रियाएं स्वतः स्वचालित रूप से चलती रहती हैं। संसार की क्रियाओं को चलाने के लिए परमात्मा की एक वृहद व्यवस्था है। जो हमारे कल्पना से भी अत्यंत वृहद है। उस परमात्मा ने अपनी शक्ति से प्रकृति को जगत की समस्त क्रियाओं के संचालन का आदेश दे रखा है। इसलिए प्रकृति जगत की समस्त क्रियाओं को अपने आदेश से अपने अधीन सम्पादित करती है।

बीज पृथ्वी में पड़ता है और वह प्रस्फुटित होकर अंकुरित हो जाता है तथा धीरे–धीरे पौधें का रूप ले लेता है। उसी पौधे से पत्तियां, फूल, फल आदि प्रकट हो जाते हैं और अंत में फल देकर पौधा समाप्त भी हो जाता है और लम्बे समय तक बना भी रहता है। बीज को अंकुरित कराना उसमें पत्तियां, फूल, फल आदि प्रकट करना इस प्रकार की जो भी क्रियाएं हैं वह स्वतः हुआ करती हैं और प्रकृति इन क्रियाओं को अपनी अदृश्य शक्ति से स्वयं ही संचालित करती रहती है। यह विलक्षण बात है कि बीज से पौधें के अंकुरण में मनुष्य का कोई सहयोग नहीं रहता। हम चाहकर भी न तो उसे अंकुरित कर सकते हैं और न ही उसमें फल, फूल, पत्ती आदि प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार अंकुरण और फल, फूल, पत्ती आदि निकलने की क्रियाएं स्वतः होती हैं।

सूर्य प्रातः निकलता है, दोपहर में तपता है और सायंकाल में पहुंच कर अस्त हो जाता है। सूर्य को कौन उदय करता है? दोपहर में उसे कौन तपाता है? और अंततः उसे कौन अस्त करता है? यह सब क्रियाएं स्वतः अपने आप चलती रहती हैं। शास्त्रों से हमें यह तथ्य ज्ञात होता कि सूर्य को प्रकट करने में, तपाने में और उसे अस्त करने में प्रकृति का सहयोग रहता है। हमें सूर्य उदय होता हुआ दिखता है और अस्त होता हुआ भी प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः न तो सूर्योदय होता है और न ही अस्त होता है वह तो निरन्तर

गति करता रहता है। उसके उदय होने पर दिन होता है और अस्त होने पर रात्रि आ जाती है। यह रात्रि और दिन आने की जो क्रियाऐं हैं वह प्रकृति के द्वारा ही संचालित होती हैं।

समुद्र में तरंगे उठती रहती हैं। ज्वारभाटा आता जाता है और कभी समुद्र शान्त हो जाता है। अनेक भयंकर तूफान आते रहते हैं वे सबके सब स्वतः आते हैं और प्रभाव दिखाकर, पृथ्वी पर तांडव मचाकर शान्त हो जाते हैं। तेज हवाएं आंधी चलती रहती हैं। सैकड़ों वृक्षों को ढहाकर फिर शान्त हो जाती हैं। यह सब जगत की क्रियाएं जो भी हैं वह स्वयं स्वचालित है। इनका संचालन नहीं करना पड़ता है। वे सबकी सब प्रकृति के आदेश और परमात्मा की व्यवस्था से चला करती हैं। मनुष्य न तो उन्हें गति दे सकता है न उनका संचालन कर सकता है और न ही उनको समाप्त कर सकता है इसलिए हम उनमें उदासीनवत् भाव रखते हैं। चूंकि उक्त सभी क्रियाऐं मनुष्य की शक्ति के बाहर की वस्तु है। उदासीनवत् भाव का अर्थ है कि जो कुछ प्रकृति मे हो रहा है वह तो घटित ही होगा। इसमें हमारा कोई सहयोग और असहयोग नहीं है।

जैसे रेलगाड़ी जा रही है और उसे हम जाते हुए देखते रहते हैं क्योंकि वह अपने गति से चल रही है। इसी प्रकार अन्य भी वाहन अपनी गति से चलते रहते हैं और हम उन्हें निरपेक्षभाव से देखते रहते हैं। प्रकृति की समस्त क्रियाओं को जिस प्रकार उदासीनवत् भाव से हम देखते हैं उसी प्रकार योग के साधक को संसार की समग्र चेष्टाओं को उदासीनत् भाव से देखना चाहिए। कोई क्या कर रहा है ? कोई क्या नहीं कर रहा है कोई कैसे जी रहा है ? कोई अमुक कार्य क्यों कर रहा है ? इस पर साधक को विचार नहीं करना चाहिए।

(ख) मनुष्यों की चेष्टाओं में अभिरूचि न रखना :–

इस संसार में तीन प्रकार की प्रकृति के मनुष्य मुख्यतः निवास करते हैं, जिन्हें सात्विक प्रकृति, राजसी प्रकृति और तामसी प्रकृति का होना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त तीन प्रकार की मिश्रित प्रकृति भी हो जाती है जो इन तीनों गुणों से मिलकर बनती है। इस प्रकार 6 प्रकार के मनुष्य प्रकट हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल कर्म करता रहता है अर्थात् वह जिस गुण से प्रभावित रहता है वह उसी गुण के अनुरूप क्रियाएं भी करता है। हम उन क्रियाओं को रोकने में सक्षम नहीं हो सकते हैं। जैसे सात्विक प्रकृति का मनुष्य स्वतः ही परमात्मा से स्नेह करेगा, देवी देवताओं की उपासना का उपक्रम करेगा। तीर्थयात्रा में उसकी स्वाभाविक रूचि होगी। समाज एवं मानव के

कल्याण के लिए कार्य करेगा। दीन हीन असहायों की सेवा करने की भावना रखेगा। मधुर भाषिता से वार्तालाप करेगा। कर्तव्य कर्मो के सम्पादन का प्रयास करेगा। धर्म और अधर्म के अंतर को जानकर धर्म के आचरण का प्रयास करेगा। शान्त चित्त रहेगा, परिवार और समाज के प्रति स्नेह आदि कार्य प्रमुखता से करेगा। इस प्रकार सात्विक गुण से प्रभावित मनुष्य में उक्त गुण स्वतः ही रहते हैं और वह सात्विक गुण के प्रभाव से इस प्रकार के कर्म अवश्य करेगा उसे यदि हम रोकना चाहें तो भी वह नहीं मानेगा।

राजसी प्रकृति का मनुष्य अनेक प्रकार के सांसारिक कर्मो में स्वाभाविक रूप से रूचि रखता है। उसकी क्रियाविधि में असीमित सांसारिक आकांक्षाएं, उन आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रयास, धन सम्पत्ति की प्राप्ति का यत्न, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा की प्राप्ति का प्रयास अपने निजी लाभ के कार्यो में अधिक अभिरूचि रखना। परिवारिकजनों के प्रति मोह तथा धन, सम्पत्ति का एकत्रीकरण, सांसारिक भोगों के प्रति स्वतः और स्वाभाविक आनन्द की अनुभूति, कर्तव्य कर्मो के प्रति उदासीनता अपने शरीर को पुष्ट रखने का प्रयास, सांसारिक क्रियाकलापों में मोह ग्रस्तता आदि स्वतः रहते हैं। मनुष्य की क्रियाओं को देखकर उसकी राजसी प्रकृति का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है।

तामसी मनुष्यों में अज्ञानता और अंधकार विशेष रूप से रहता है। इस कारण वह दुष्कर्मो के सम्पादन को प्रमुखता देता है। सदैव निद्रा और आलस्य में डूबा रहना, बात बात पर क्रोध करना, समाज में उपद्रव, विध्वंस उत्पन्न करने का प्रयास करना, अकारण असत्यता के भाव का उपार्जन, असमाजिक और अवैधानिक कार्यो में प्रवृत्ति, हिंसा आदि कर्मो में रूचि तथा विकृत भोग वृत्ति के मनुष्य तमोगुणी प्रधान होते हैं और उपरोक्त प्रकार की क्रियाओं को स्वतः ही करते रहते हैं। जो मनुष्य उपरोक्त प्रकार की क्रियाएं करता है उसे तमोगुणी प्रधान स्वभाव का मानना चाहिए। मनुष्य की उपरोक्त प्रकार की चेष्टाओं को देखकर हम उसे तमोगुणी प्रधान होने को सहजता से जान सकते हैं।

उपरोक्त गुणों से प्रभावित मनुष्य यदि दो प्रकार के गुणों से प्रभावित हों तो उसे मिश्रित गुण वाला माना चाहिए। जैसे सत्वगुण के प्रभाव से जो क्रियाऐं होती हैं और रजो गुण के प्रभाव से जो क्रियाऐं होती हैं उन दोनों प्रकार की क्रियाओं का प्रदर्शन जहां पर हो उस व्यक्ति को रज और सत मिश्रित मनुष्य मानना चाहिए। इसी प्रकार सत और तम,रज और तम मिश्रित मनुष्य भी संसार में पाये जाते हैं। इस संसार में अधिकांश मनुष्य मिश्रित गुणों से प्रभावित होते हैं इसी कारण वे मिश्रित चेष्टाएं करते हैं।

योग के साधक को इस तथ्य को समझना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में जो चेष्टाऐं होती हैं वे उसके गुणों से प्रभावित होती हैं। जब भी कोई मनुष्य जिस किसी प्रकार की चेष्टा करता है तो वह चेष्टा उसकी क्रिया में परिलक्षित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि गुण ही चेष्टा और क्रियाएं के रूप में हमें दिखाई पड़ता है। वस्तुतः मनुष्य स्वयं में कोई क्रिया नहीं करता। वह गुणों से प्रभावित होकर असंख्य प्रकार की क्रियाऐं किया करता है। योग के साधक को यह तथ्य स्पष्ट रूप से दृढ़ कर लेना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में जो क्रियाएं हो रही हैं वह गुणों के आधार पर हो रही है। इसलिए जो भी मनुष्य जो क्रियाऐं करता है उससे साधक को कभी प्रभावित नहीं होना चाहिए। यह योग की सिद्धि का प्रमुख मूलमंत्र है। साधक जब संसार के अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं से तथा चेष्टाओं से प्रभावित होने लगता है तब उसे उसकी योग साधना में प्रमुख बाधा मानना चाहिए।

जैसे एक पागल मनुष्य अपने पागलपन के कारण असंगत और अनावश्यक क्रियाकलाप करता है क्योंकि वह उचित क्रियाओं के प्रति जागरूक नहीं है। हम पागल व्यक्ति की असहज क्रियाओं और उसकी चेष्टाओं पर ध्यान नहीं देते क्योंकि हम यह जानते हैं कि वह पागलपन के कारण अनेक प्रकार की असहज और अनावश्यक चेष्टाएं कर रहा हैं। उसी प्रकार साधक को यह समझना चाहिए कि मनुष्य की समस्त क्रियाएं त्रिगुणों से प्रेरित हैं। मनुष्य स्वयं कोई क्रिया नहीं करता है। इस कारण योग की साधना की ओर उन्मुख साधक संसार के मनुष्यों की क्रियाओं को उपेक्षित भाव से देखता रहता है और उन पर कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता है। यह स्थिति योग साधना की सिद्धि में सहायक सिद्ध होती है।

(ग) किसी को उद्विग्न न करना तथा न होना :–

जो मनुष्य योग साधना में आरूढ़ होने की इच्छा रखता हो वह मनुष्य यह जान जाता है कि मनुष्य की समग्र चेष्टाओं का मूल कारण त्रिगुण हैं। इसलिए उसे किसी व्यक्ति की चेष्टाओं में कोई अभिरूचि नहीं रहती है। मनुष्य जो भी क्रियाऐं करता है वह जब त्रिगुणों के अधीन ही करता है तो यदि कोई वह अप्रिय व्यवहार करता है तो उसे उस अप्रिय व्यवहार के लिए उत्तरदायी नहीं समझना चाहिए। अथवा उसके द्वारा किया गया अप्रिय व्यवहार मनुष्य के द्वारा कृत नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह त्रिगुणों की अभिव्यक्ति मात्र है, क्रिया मात्र है।

प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार निरन्तर समाज में रहता है। दैनिक क्रियाकलापों में हम प्रतिदिन अनेक प्रकार के मनुष्यों से मिलते हैं। वह सभी मनुष्य त्रिगुणों से प्रभावित रहते हैं। हमारा उनसे कोई न कोई कार्य अवश्य रहता है। चलते फिरते, उठते बैठते हम सभी मनुष्यों के संसर्ग में रहते हैं। साधक मनुष्य किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करता है जिससे अन्य मनुष्य परेशान हो, उद्विग्न हो। इसलिए वह किसी को उद्विग्न नहीं करता है तो अन्य व्यक्ति भी उसे अनावश्यक रूप से उद्विग्न नहीं करते हैं। किसी को परेशान न करना और किसी से परेशान न होना यह योग के साधक व्यक्ति का प्रमुख लक्षण है।

इस जगत की समस्त क्रियाऐं किसी व्यवस्था के अधीन संचालित हो रही हैं। जैसे हम खेत में किसी भी प्रकार का अनाज बो देते हैं तो हमें उसी अनाज की अर्थात् फल की प्राप्ति होती है। वैसे ही हमारे कर्मो के परिणाम की व्यवस्था है। जब हम किसी को उद्विग्न नहीं करते हैं तो अन्य व्यक्ति हमें उद्विग्न नहीं कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि हम जब किसी को कष्ट नहीं देते हैं तो अन्य कोई व्यक्ति भी हमें कष्ट नहीं दे सकता है। यह प्रकृति की विशिष्ट व्यवस्था है। यह समग्र जगत परमात्मा की व्यवस्था के अधीन कार्य कर रहा है। परमात्मा के द्वारा स्थापित व्यवस्था को बहुत सूक्ष्म रूप से हमें देखना चाहिए।

वस्तुतः इस परमात्मा की व्यवस्था में ऐसा स्पष्ट रूप से है कि हम किसी व्यक्ति को यदि उद्विग्न करेंगे तो परमात्मा की व्यवस्था के अधीन हम भी परेशान किये जायेंगे। ऐसा व्यवहार में सहज तो प्रतीत नहीं होता है परन्तु यही नियम है और यही प्रकृति की व्यवस्था का निश्चित सिद्धान्त है। एक साधक मनुष्य को परमात्मा के इस सिद्धान्त को मानना चाहिए और उसका अनुकरण भी करना चाहिए। यहां पर एक तथ्य और भी कहना समीचीन होगा कि यदि परमात्मा की इस व्यवस्था के सिद्धान्त को हम मान लें तो उसका हम अपने जीवन में प्रयोग भी कर सकते हैं। यह प्रयोग कुछ दिनों का नहीं है वरन् एक लम्बे अंतराल का है। हम अपने प्रत्येक कार्य पर यह दृष्टि रखें कि हमने किसी व्यक्ति को उद्विग्न तो नहीं किया है और हम निरन्तर इस पर दृष्टि रखकर किसी को उद्विग्न न करने का प्रयास करें तो भविष्य में हमें भी कोई व्यक्ति उद्विग्न नहीं करेगा। उच्चकोटि के साधकों को यह आभास होने लगता है कि हमारे कर्मफल ही हमारे समक्ष प्रकट होते हैं। इस कारण योग साधना के साधक को इस तथ्य को बहुत ध्यान में रखना चाहिए कि हमें संसार में किसी को उद्विग्न नही करना है और उसके परिणामस्वरूप हम भी कभी उद्विग्न नहीं होंगे।

(घ) परिमित, सुपाच्य, सात्विक भोजन करना :–

भोजन का मानव शरीर पर बहुत प्रभाव रहता है। इस तथ्य को हम इस प्रकार कहें कि मानव शरीर पर भोजन का ही प्रभाव रहता है तो यह तथ्य तर्कसंगत और उपयुक्त होगा। पुरानी कहावत है कि जैसा अन्न वैसा मन। यह कहावत वस्तुतः तो बहुत सहज प्रतीत होती है परन्तु हमारे पूर्वजों ने इसे बहुत सोंच समझ कर और व्यवहारिक स्तर पर परखकर इसे निष्पादित किया है। हम जो भी भोजन करते हैं उससे शरीर ऊर्जा प्राप्त करता है और क्रियाशील रहता है। मानव शरीर में अनेक प्रकार की जो चेष्टाऐं और गति होती है वह भोजन के द्वारा प्रदान की गई ऊर्जा से ही होती है। हम सभी ने यह अनुभव किया होगा कि यदि हम बीमारी के कारण अथवा अन्य किसी कारणवश भोजन नहीं कर पाते हैं तो शरीर दुर्बल हो जाता है। हमारा शरीर प्रतिदिन जो कार्य करता है उसको भी करने में असमर्थ हो जाता है तथा हम निद्रा और आलस्य से प्रभावित हो जाते हैं। इस कारण शरीर में शक्ति का संतुलन बनाये रखने के लिए ऊर्जावान भोजन की मनुष्य को आवश्यकता होती है। हम ऊर्जावान भोजन से शरीर की शक्ति को बनाये रखते हैं। नित्य प्रति के जो हमारे कार्य हैं वह शारीरिक ऊर्जा से पूरे होते हैं। इस प्रकार हमारे जीवन में भोजन का अत्यधिक महत्व है।

साधक मनुष्य के योग पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले मनुष्य के लिए भोजन परिमित मात्रा में हो, सुपाच्य हो तथा सात्त्विक हो और उसमें स्वच्छता का होना भी आवश्यक है। परिमित मात्रा का अर्थ है कड़ी भूख लगने पर आधा पेट भोजन करना चाहिए। शेष आधे पेट में एक चौथाई जल तथा एक चौथाई वायु के लिए स्थान छोड़ना चाहिए। ऐसा करने से हम जो भोजन लेते हैं वह समय से पच जाता है तथा मल मूत्र का समय से त्याग होता है। कथन का अभिप्राय यह है कि हमें अपने भूख से आधे पेट ही भोजन करना चाहिए। हम सभी ने यह आभास किया होगा कि पूरी तरह से अधिक मात्रा में भोजन कर लेने पर हमें सुस्ती, प्रमाद, आलस्य तत्काल आता है। भोजन के अधिक हो जाने पर अपच की स्थिति आती है और मनुष्य की शक्ति का ह्रास होता है। कभी–कभी अत्यधिक भोजन से वमन या दस्त जैसी स्थितियां भी उत्पन्न हो जाती हैं। इस कारण आयुर्वेद में आधे पेट भोजन की व्यवस्था की गई है।

सुपाच्य भोजन का भी योग साधना में बहुत महत्व है। योग का साधक साधारणतया यदि सुपाच्य भोजन नहीं लेता है तो उसे योग साधना में निश्चित ही कठिनाई आती है।

भोजन सामान्य रूप से दो ही प्रकार का होता है। एक गरिष्ठ और दूसरा हल्का। गरिष्ठ भोजन को भारी भी कहा जाता है। जो भोजन देर से पचता है और जिसको पचाने के लिए हमें बड़ी शक्ति की आवश्यकता होती है। उस भोजन को गरिष्ठ भोजन कहा जाता है। सुपाच्य भोजन तत्काल पच जाता है और वह हमारे शरीर को वांछित ऊर्जा प्रदान करता है। इसलिए योग के साधक को सुपाच्य भोजन करना चाहिए और इस प्रकार का भोजन योग की साधना में बहुत सहायक होता है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के भोजन का वर्णन आता है। जिसे 1– सात्त्विक भोजन 2–राजसी भोजन 3–तामसी भोजन कहा जाता है। सात्त्विक भोजन से सात्त्विक विचार स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। राजसी भोजन से राजसी विचार आते हैं और तामसी भोजन से तामसी विचार और भावनाए स्वयं ही उत्पन्न हो जाती हैं। सात्त्विक भोजन में विशेषकर दूध, फल, हरी सब्जियां आदि आते हैं। राजसी भोजन में तले हुए पदार्थ और गरिष्ठ भोजन आता है, और तामसी भोजन में मांस, मदिरा और उच्छिष्ट भोजन आता है। सात्त्विक भोजन शीघ्र पचता है तथा इस कारण सुपाच्य होता है। उसके ग्रहण करने से सात्त्विक भावनाएं आ जाती हैं जो योग साधना में सहायक होती हैं। राजसी और तामसी भोजन योग साधना में बाधा उत्पन्न करती है। इस कारण साधक को राजसी और तामसी भोजन कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए। भोजन में स्वच्छता विशेष होनी चाहिए। स्थान और वातावरण भी स्वच्छ होना चाहिए। इससे योग साधक को बहुत लाभ होता है। इस कारण योग की साधना पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले साधक में सीमित सुपाच्य और सात्विक भोजन ही ग्रहण करना चाहिए।

(ङ) शरीर को क्रियाशील रखने हेतु पर्याप्त निद्रा :–

परमात्मा ने मानव शरीर की तीन अवस्थाएं बनायी हैं जिन्हें 1– जाग्रत अवस्था 2–स्वप्नावस्था तथा 3–सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है। मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि के सहारे संसार में नाना प्रकार के कर्म करता रहता है। जाग्रत अवस्था में हम सभी कार्य करते करते थक जाते हैं तो शरीर में पुनः स्फूर्ति लाने, ऊर्जा संग्रहीत करने के लिए, सोने की आवश्यकता पड़ती है। जब मनुष्य सो जाता है तो निद्राकाल में शरीर ऊर्जा संग्रहित कर लेता है और पुनः जाग्रत अवस्था में आकर अपने सांसारिक कर्मो का क्रियान्वयन आरम्भ करता है। यह क्रिया प्रक्रिया अर्थात् जाग्रत सुषुप्ति अवस्था चलती रहती है। सुषुप्ति अर्थात् सोने वाली अवस्था न होती तो मनुष्य कार्य के लिए ऊर्जा का संग्रह नहीं कर पाता। जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्था की तरह से स्वप्नावस्था का भी बड़ा महत्व है।

स्वप्नावस्था में चलचित्र की भांति अनेक घटनाओं को हम देखते हैं। वस्तुतः जाग्रत अवस्था में हम जो विचार करते हैं वे हमें अधिकांशतः स्वप्नावस्था में प्रतीत होते हैं। परमात्मा की यह व्यवस्था अत्यंत विलक्षण है कि हम स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की तरह से ही अनुभूति करते हैं। सोते हुए भी जाग्रत अवस्था का आभास करना स्वप्नावस्था की विलक्षणता है। यह एक अत्यंत विस्मयकारी तथ्य है कि हम सोकर भी जगत का आभास करते हैं और ऐसी ऐसी वस्तुओं को देख लेते हैं जिनकी हम कल्पना नहीं कर सकते हैं। साधारण व्यक्ति, साधक, उत्कृष्ट साधक और सिद्ध पृथक्–पृथक् प्रकार के स्वप्नों की अनुभूति करता हैं।

हम जाग्रत अवस्था में ठीक प्रकार से कार्य कर सकें उसके लिए सोना आवश्यक होता हैं। कभी–कभी आपने देखा होगा और अनुभव किया होगा कि हम जब रात्रि में समय से सो नहीं पाते हैं तो हम दिन में अपना कार्य ठीक से नहीं कर पाते हैं। हमारे शरीर में सुस्ती रहती है प्रमाद और आलस्य रहता है। कभी–कभी किसी रोग के कारण भी हमारा शरीर अस्वस्थ रहता है तथा हमें विश्राम की आवश्यकता प्रतीत होती हैं। हम जब विश्राम कर लेते हैं तो प्रमाद और आलस्य का भाव गायब हो जाता है। इस कारण साधरणतया शरीर की क्रियाशीलता अर्थात् चुस्ती फुर्ती के लिए हमारी निद्रा का महत्वपूर्ण स्थान हैं। हमें अपने को सक्रिय रखने के लिए पूरी निद्रा लेनी पड़ती है।

साधना के पथ पर चलने की इच्छा वाले के लिए संयमित रहकर समय से जागना और समय से सोना परमावश्यक है। हम जब योग की ओर उन्मुख होते हैं तो शरीर में स्फूर्ति रहना परमावश्यक है। यद्यपि योग की उत्कृष्ट स्थिति आने पर हमारे शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है और कार्य करने की विशिष्ट शक्ति रहती है। अद्भुत प्रकार से निरन्तर कार्य करने की शक्ति का उदय हो जाता है। यह योग की उत्कृष्ट अवस्था है जो साधारण रूप से नहीं आती है। साधक के मन में सदैव स्फूर्ति रहे इस कारण प्राथमिक अवस्था में साधक को विश्राम की नितान्त आवश्यकता रहती है, जिससे उसके शरीर में शक्ति का प्रादुर्भाव रहे। इतनी मात्रा में हमें विश्राम करना चाहिए। यह स्थिति, वातावरण, आयु पर आधारित होता है। जैसे हम कितने वजन की वस्तु उठा सकते हैं इसका परिमापन हम भार को उठाकर कर सकते हैं। वैसे ही हमें जितनी निद्रा की आवश्यकता होती है वह साधक जान जाता है और उसी के आधार पर विश्राम करता है।

मानव शरीर त्रिगुणों से प्रभावित रहता है। इस तथ्य का उल्लेख पूर्व में भी किया जा चुका है। जब हम जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था की ओर बढ़ते हैं तो तमोगुण हमें

अपने आगोश में ले लेता है अर्थात् शरीर पर तमोगुण का प्रभाव बहुत तेजी से पड़ता है और तमोगुण के कारण ही हमें निद्रा आती है। मनुष्य को तमोगुण ही आच्छादित करके निद्रा को प्रकट कर देता है। हम जब सुषुप्ति अवस्था से जागृत अवस्था में आते हैं तो उस समय सत्वगुण बढ़ जाता है। हम सभी ने यह आभास किया होगा कि प्रातःकाल हमारे शरीर में विशेष स्फूर्ति और चैतन्यता रहती है। यह सत्वगुण के बढ़ने के कारण रहती है। दिन के बढ़ने के साथ हम सांसारिक कार्यो के प्रति क्रियाशील होते जाते हैं तो हमारा रजो गुण बढता जाता है। रजोगुण ही हमें सांसारिक क्रियाकालपों में व्यस्त रखता है और सायंकाल आते आते हम रजोगुण से प्रभावित होकर अनेक प्रकार के कर्म करते हैं तथा ऐसी स्थिति में हमारा शरीर सांसारिक कार्यो के कारण थक जाता है तब रजोगुण ही तमो गुण में धीरे–धीरे परिवर्तित होने लगता है और हम अपने शरीर में थकावट, आलस्य का अनुभव करते हैं। तमोगुण के बढ़ने पर हमारे शरीर को निद्रा की आवश्यकता होती है और तमोगुण की अत्यधिक प्रबलता होने पर हम तत्काल विश्राम करना चाहते हैं। यह प्रकृति के द्वारा रची गई विशिष्ट व्यवस्था है जो सभी व्यक्तियों पर लागू होती है।

(च) वार्तालाप में अनावश्यक शब्दों और विषयों को ग्रहण न करना :–

आजकल के समाज में आपने प्रायः देखा होगा कि पृथक्–पृथक् प्रकार के अनेक विषयों पर चर्चाएं चलती रहती हैं। विषय असंख्य हैं तथा उनकी वाद विवाद की विषय वस्तु भी अन्तत है। चर्चा होती रहती है तथा अनावश्यक विषयों पर चला करती है। जिनका हमारे सामाजिक, पारिवारिक जीवन से कोई सम्बंध नहीं होता है और यह हमारे लिए महत्वहीन ही हैं, ऐसी चर्चाओं का हमारे जीवन में कोई अभिप्राय भी नहीं है परन्तु फिर भी हम अनावश्यक विषयों और अनावश्यक बातचीत में अपने को संलग्न कर लेते हैं जिस प्रकरण का जिस विषय का हमारे जीवन से कोई सम्बंध नहीं है उस पर चर्चा करना तो मूर्खता ही कहा जाएगा। हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन से जिस विषय का सम्बंध न हो उस पर अनावश्यक वार्तालाप करना उचित नहीं है।

आजकल समाज में, आधुनिक जगत में अनावश्यक चर्चाओं का विशेष प्रचलन हो चुका है। मनुष्य अनावश्यक विषयों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा उस विशेष चर्चा करना उसकी अभिरूचि बन गया है। मानव की रूचि के अनेक विषय हैं और हम इसी आधार पर बाते करते रहते हैं। आपने कई लोगों को यह प्रश्न करते हुए सुना होगा कि आपकी हॉबिज क्या हैं। हॉबिस अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ शौक होता है। हिन्दी भाषा में इसे अभिरूचि कह सकते हैं। अभिरूचि पूछे जाने पर सामान्यतः व्यक्ति

यही उत्तर देता है कि हमारी अभिरूचि खेल, सिनेमा, पुस्तके पढ़ना, वार्तालाप करना, घूमना टहलना, विदेश यात्रा आदि आदि हमारी अभिरूचि में है। राजनीति भी आजकल के मनुष्य की एक अभिरूचि हो गई है। हम अपनी हॉबीज पर अपने शौक पर जानकारी के संग्रह का प्रयास करते हैं और उस पर चर्चा करते हैं। कभी–कभी ऐसा अधिकांशता भी होता है जिस किसी विषय की हमको जानकारी नहीं होती है उसमें भी हम हस्तक्षेप करने का प्रयास करते हैं और अनावश्यक शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं।

साधक जो योग पर आरूढ़ होने की इच्छा रखता हो उसे कभी भी अनावश्यक विषयों को ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा सांसारिक विषयों की जानकारी रखने का प्रतिबंध नहीं है परन्तु उससे योग साधना में कोई विशेष लाभ नहीं होता है। वरन् उससे हानि ही होती है। सांसारिक विषय ही योग साधना में विशेष बाधक माने जाते हैं यह तथ्य हमें स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए और दृढ़ता से अपने मन में बिठा लेना चाहिए। सांसारिकता और आध्यात्मिकता एक दूसरे के प्रतिकूल विषय हैं, क्योंकि हम जिस विषय पर अध्ययन करते हैं उसमें हमारी अभिरूचि रहती है। सांसारक विषयों में अभिरूचि हो जाने पर आध्यात्मिक अभिरूचि का स्वतः ही क्षय हो जाता है। यह तथ्य हम सभी साधकों को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए।

हम जब किसी विशिष्ट सांसारिक विषय की जानकारी हो जाती है और हम किसी सांसारिक विषय को पर्याप्त सीमा तक जानते हैं तथा संकलित कर लेते हैं तो उस पर ही चर्चा करने की ओर उन्मुख रहते हैं अर्थात हमारे मन में यह भाव आया करता है कि हम अपने वांछित सांसारिक विषय पर अधिक से अधिक चर्चा करें। यह तथ्य योग साधना के प्रतिकूल है। स्वभावतः मनुष्य अपनी जानकारी को समाज के समक्ष व्यक्त करना चाहता है। इससे आध्यात्मिक विषय में बाधा आ जाती है। इस कारण हम यदि योग पर आरूढ होने की इच्छा रखते हैं तो संसार की जानकारी के अभाव का हमें प्रयास करना चाहिए। योग पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले साधक के लिए अधिकतम आध्यात्मिक चर्चा करना ही यथेष्ट है। आध्यात्मिक विषय ही इतना वृहद विषय है जिसे हम जीवनपर्यंत ग्रहण करने के पश्चात् भी उसका अंत नहीं पा सकते हैं। आध्यात्मिक विषय में अनेक प्रकार के संशय हमारी योग साधना काल में उत्पन्न हो जाते हैं और उन संशयों का निवारण करना अनिवार्य होता है। हमें जो ज्ञात नहीं है अथवा हमारे अनुभव में जो नहीं आया है उसी को संशय कहा जाता है और यह संशय योग साधना में बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए साधक को आध्यात्मिक संशयों निवारण का प्रयास करना चाहिए तथा अनावश्यक वार्तालाप तथा अनावश्यक विषयों पर चर्चा करने से बचना चाहिए। ?

(छ) प्रश्नों का संक्षिप्त और सारगर्भित उत्तर देना :–

मनुष्य की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह प्रश्नों का उत्तर देता है। चूंकि प्रत्येक मनुष्य त्रिगुणों से प्रभावित होता है इसलिए वह जिस गुण से प्रभावित होता है उसी प्रकार प्रश्नों का उत्तर भी देता है। हमें इस तथ्य का अपने सामाजिक जीवन में अनुभव भी करना चाहिए। यदि मनुष्य सात्त्विक गुण से प्रभावित है तो किसी प्रश्न का उचित उत्तर देने का प्रयास करेंगा और यदि रजोगुण से प्रभावित है तो उसका उत्तर संशययुक्त रहेगा, तथा यदि मनुष्य तमोगुण से प्रभावित है तो वह हमारे प्रश्नों का प्रतिकूल उत्तर देगा। जैसे हम किसी नये स्थान पर जब जाते हैं तो हमें उस स्थान के पथ के बारे में ज्ञान नहीं होता है। यदि हम नये स्थान पर किसी सात्त्विक व्यक्ति से उस स्थान की जानकारी विषय में प्रश्न करते हैं तो सात्त्विक व्यक्ति यह प्रयास करेगा कि वह हमें उचित स्थान पर इस प्रकार सहजतापूर्वक पहुंचने के लिए मार्ग बतायें। इसके साथ ही यदि हम नये स्थान की जानकारी के लिए किसी राजसी व्यक्ति से प्रश्न करेंगे तो वह हमें उस स्थान के बारे में संशययुक्त उत्तर देगा और तमोगुण से प्रभावित मनुष्य अधिकांशतः प्रतिकूल ही उत्तर देगा। यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार समाज में असंख्य क्रियाकलापों में हम जब किसी प्रश्न को प्रस्तुत करते हैं तो मनुष्य अपने गुणों के अनुसार उसका उत्तर देता है।

योग पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले साधक से यदि कोई प्रश्न पूछा जाऐ तो उसे संक्षिप्त और सारगर्भित उत्तर देना चाहिए तथा अनावश्यक प्रश्नों को ग्रहण ही नहीं करना चाहिए। जगत में दो प्रकार के विषय मुख्यतः होते हैं जिन्हें सांसारिक और आध्यात्मिक विषय कहा जाता है। आध्यात्मिक पथ सांसारिक पथ के सर्वथा प्रतिकूल है। संसार में हम जो जो देखते सुनते है और विचार करते है वह आध्यात्मिक पथ में बाधक है। हमारी वार्तालाप में सांसारिक विषयों की प्रधानता होती है और उसी से सम्बंधित प्रश्न होते हैं। आपने सामान्य रूप से वार्तालाप करते हुए लोगों को सुना होगा तथा गोष्ठियों के आयोजन के विषयों को भी जाना होगा। उनमें से अधिकांशतः सांसारिक विषय ही होते हैं जिन पर चर्चा होती है। वे समस्त सांसारिक विषय अध्यात्मिक पथ के लिए बाधक हैं और निश्चित रूपेण अवरोध हैं। इस कारण साधक को प्रथमता तो सांसारिक विषयों के सम्बंध में चर्चा करने का प्रयास नहीं करना चाहिए और उसके समक्ष यदि कोई सांसारिक प्रश्न करता है तो उसका संक्षिप्त और सारगर्भित उत्तर दे देना चाहिए तथा प्रश्न को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

(ज) वाद विवाद कदापि नहीं करना चाहिए :–

जो मनुष्य आध्यात्मिक पथ का आचरण और अवलम्बन करना चाहता हो उसे वाद विवाद में कदापि नहीं पड़ना चाहिए। मनुष्य जब किसी सांसारिक वाद विवाद में अथवा आध्यात्मिक वाद विवाद में पड़ जाता है तो उस वाद विवाद का मनुष्य पर बहुत गहन प्रभाव पड़ता है। हम जब भी किसी सांसारिक अथवा आध्यात्मिक वाद विवाद में पड़ते हैं तो हम चाहते हैं कि हमारा मत उत्कृष्ट सिद्ध हो और हमें किसी भी वाद विवाद में विजय प्राप्त हो। ऐसा विचार रखकर जब हम वाद विवाद करते हैं तो हमारा मन और हमारी बुद्धि असंयमित रूप से अनेक तर्को को प्रस्तुत करती है। इस क्रिया में हमें बहुत असहज होना पड़ता है। किसी वाद विवाद में पराजित हो जाने पर हमारे मन में ग्लानि का भाव आ जाता है तथा ईर्ष्या और द्वेष स्वतः ही उत्पन्न होता है। इसके प्रतिकूल हम यदि किसी वाद विवाद में विजयी होते हैं तो हमारे मन में श्रेष्ठता का भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों परिस्थितियों में हमारी आंतरिक हलचल बहुत बढ़ जाती है जो योग साधना में बहुत बाधक होती है। इसलिए हमें किसी प्रकार के सांसारिक और आध्यात्मिक वाद विवाद में कभी नहीं पड़ना चाहिए। शास्त्रों में भी वाद विवाद पर निश्चित रूप से प्रतिबंध लगाया गया है।

1– कठोपनिषद् में वाद विवाद के लिए प्रतिबंधित किया गया है –

नैषा तर्केण मतिरापयेना, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि, त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।

कठोपनिषद्।1। 2। 9।

भावार्थ : जिस तत्त्व ज्ञान को तुमने प्राप्त किया है वह तर्क से नहीं प्राप्त हो सकता। वरन् किसी तत्त्वदर्शी महापुरूष के साथ से ग्रहण होता है। उस आत्मज्ञान का ग्रहण स्वयं के प्रयास से हो जाता है।

2– ब्रह्म सूत्र में कहा गया है–

तर्काप्रतिष्ठानात् ••• (2/1/11)

तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है।

3– नारद भक्ति सूत्र में कहा गया है –

वादो नावलम्बयः ।। 74।।

साधक को कभी भी वाद विवाद नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार साधक को कभी भी किसी भी आध्यात्मिक विषय पर वाद विवाद नहीं करना चाहिए। वस्तुतः सांसारिक विषयों में तो साधक को कभी भी वाद विवाद में पड़ना ही नहीं चाहिए और विशेष कर आध्यात्मिक विषयों में भी उसे वाद विवाद नहीं करना चाहिए। कभी कोई आध्यात्मिक प्रश्न के उत्पन्न होने पर उसे अपने से योग्य और श्रेष्ठ मनुष्य के पास जाकर उसके निराकरण का प्रयास करना चाहिए श्री गीता जी में भी तत्त्व की प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी पुरूषों के पास जाकर उचित और विनयपूर्ण प्रश्न करने का प्राविधान दिया गया है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(गीता/4/34)

भावार्थ : हे अर्जुन ! तू तत्त्वज्ञ महापुरूषों के निकट जाकर उन्हें साष्टांग दण्डवत करके उनकी सेवा करके सरलतापूर्वक प्रश्न कर ऐसा करने से वे तुझको परमात्मा के साक्षात्कार की विधि का उपदेश देंगे।

सत्य के तत्त्व की जानकारी के लिए साधक मनुष्य को शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय चिंतन मनन महापुरूषों का संग तथा परमात्मा के निरन्तर जप और स्मरण का प्रयास करना चाहिए। इन साधनों में सत्य के तत्त्व की जानकारी और उसका अनुभव करने हेतु परमात्मा का सतत स्मरण लाभकारी साधन है और ऐसा करने से समग्र प्रकार के साधनों का पालन करने से समग्र प्रकार के संशयों की निवृत्ति शीघ्र हो जाती है और सत्य के तत्त्व का प्रकाश स्वतः प्रकट होता है। वाद विवाद में मनुष्य अपने मत की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहता है। न्याय दर्शन में महर्षि गौतम ने इस विषय को विधिवत् वर्गीकृत किया है तथा सत्य सम्बंधित कुछ तथ्यों का उल्लेख किया हैं। इसका अवलोकन कीजिए–

(एक) तर्क : जो तथ्य हमारी जानकारी में न हो अर्थात् अज्ञात हो उसकी संज्ञानता हेतु जो कल्पना की जाती है उसे साधारण रूप से तर्क कहते हैं।

(दो) निर्णय : किसी तथ्य के यथार्थ को जानने हेतु दो पक्षों अर्थात् पक्ष और विपक्ष के तर्को के उपरान्त जो निष्कर्ष ग्रहण होता है उसे निर्णय कहते हैं।

(तीन) वाद : अपने मत की पुष्टि हेतु अथवा अपने पक्ष में जो प्रमाण या तर्क दिए जाते हैं उस सम्बंध में जो कुछ प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया जाता है वह वाद कहलाता है।

(चार) जल्प : प्रमाण को प्रस्तुत करके, तर्क आदि को देकर छल, जाति, निग्रह स्थानों द्वारा अपने मत को सिद्ध करना तथा दूसरे के पक्ष का निषेध करना जल्प कहलाता है।

वाद एवं जल्प के अन्तर को महर्षि गौतम ने स्पष्ट किया है। वाद जय पराजय के भाव से रहित होता हैं तथा जल्प में सत्यासत्य की प्रस्तुति करके ऐन केन प्रकारेण अपने पक्ष की सिद्धि का प्रयत्न रखता है।

(पांच) वितण्डा : अपना कोई मत, आधारभूत सिद्धान्त न हो मात्र प्रतिष्ठा की पराजय का भाव रखकर सत्य और असत्य सभी का खंडन किया जावे तो उसे वितंडा कहते हैं।

(छः) छल : कथन का प्रमुख अभीष्ट अभिप्राय प्रयोजन कुछ अन्य हो तथा उस सही अर्थ को प्रतिकूल करके वास्तविक भाव को विकृत कर दिया जावे तो उसे छल कहते हैं। यह छल तीन प्रकार का होता है। जिसे वाक् छल, सामान्य छल, उपचार छल कहते हैं।

वाद विवाद के सम्बंध में न्याय दर्शन में पर्याप्त प्रस्तुति की गई है पर साधक को वाद विवाद से सर्वथा विगत हो जाना चाहिए और कभी भी वाद विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। किसी विषय पर हम जब वाद विवाद करते हैं तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपने पक्ष को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और यह स्थिति हानिप्रद है। साधक का एक मात्र उद्देश्य है कि वह सत्य के सैद्धान्तिक स्वरूप को समझे तथा उसे प्रयोगात्मक स्वरूप परिणित कर दे। वाद विवाद से सत्य के स्वरूप को समझा जा पाना असंभव है। वरन् वाद विवाद से सत्य का तत्त्व विखंडित हो जाता है। हम जो कहना चाहते हैं वह सत्य से अलग हटकर वाद विवाद में कहते हैं। यही वाद विवाद की विशिष्टता है। इस कारण साधक को कभी भी वाद विवाद में नहीं पड़ना चाहिए और उससे अपने को पृथक् रखना चाहिए।

(झ) सत्य तत्त्व को ग्रहण करने का प्रयास करना :–

साधक के जीवन में सत्य तत्त्व को ग्रहण करने में अनेक समस्याऐं स्वतः प्रकट हो जाती हैं। सत्य के तत्त्व को ग्रहण करने में संशय प्रमुख बाधा रहता है। सांसारिक कार्यो में सत्य का ग्रहण करना सहज नहीं है। हम अपने जीवन में अनेकों बार संशय ग्रस्त होते हैं कि क्या करना उचित है ? और क्या करना उचित नहीं है ? यह स्थिति किंकर्तव्यविमूढ़ता

की स्थिति कही जाती है। सांसारिक जीवन में संशय विशेष रहते हैं उसी प्रकार हमारे आध्यात्मिक जीवन में अनेक प्रकार के संशय स्वतः प्रकट हो जाते हैं। आध्यात्मिक पथ ही संशयों का समुच्चय है। एक से एक बढ़कर संशय आध्यात्मिक पथ पर प्रकट होते हैं। कुछ संशयों का विवरण निम्न प्रकार है।

1– किस शक्ति की उपासना करना उचित है ?

2– वह उपासना किस प्रकार की जाऐ अर्थात् उस उपासना की क्या पद्धति होगी? ताकि उपासना मार्ग में कोई भी कमी प्रतीत न हो।

3– उस उपासना से हमें क्या लाभ प्राप्त होगा ? क्योंकि जो उपासना कर रहे हैं उससे समुचित लाभ नहीं हो पा रहा है।

4– किन ग्रहों की हमारी उपासना पद्धति में प्रतिकूलता है? जिससे हमारी उपासना फलीभूत नहीं हो पा रही है।

5– हमारे कर्म सफल नहीं हो रहे हैं हमे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा भाग्य साथ नहीं दे रहा है। इसलिए हमें वांछित सिद्धि प्राप्त नहीं हो रही है।

6– सही मार्ग क्या है? और उसका अवलम्बन किस प्रकार किया जाए? जिससे हमें वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति हो सकें।

7– किस विधि से हम किस अध्यात्मिक मार्ग का अवलम्बन करें? जिससे हमें शीघ्र ही तत्त्व की प्राप्ति हो जाए।

8– जिस विधि से हम उपासना कर रहे है? वह विधि उचित है अथवा अनुचित है शास्त्रसंगत है अथवा शास्त्र के प्रतिकूल है।

9– अनेक प्रकार के सम्प्रदायों में पृथक्–पृथक् प्रतिकूल भाव प्रकट हो रहे हैं। इनमें सत्य क्या है ? इसका विनिश्चय कैसे होगा ?

10– किस महापुरूष का कथन सत्य है? और किस महापुरूष का कथन असत्य है ? इस तथ्य का निर्धारण कैसे होगा?

11– किस अध्यात्मिक ग्रंथ का अनुकरण हमें करना चाहिए? जो हमें सही आध्यात्मिक पथ दिखा सकें तथा सत्य के तत्त्व की अनुभूति करा सके।

ऐसे कई प्रकार के संशय जो मनुष्य के साधना पर स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं उनके उचित निराकरण का और निवारण का साधक को प्रयास करना चाहिए। सत्य के तत्त्व की जानकारी शास्त्रों से हमें प्राप्त होती है। इस कारण शास्त्रों में जो कुछ लिखा हुआ है उसका हमें स्वाध्याय करना चाहिए। यह एक निश्चित मार्ग है जो परमात्मा के आश्रय से सफल होता है। सत्य के तत्त्व का विनिश्चय परमात्मा के निरन्तर स्मरण से शीघ्र हो जाता है। साधक को इसलिए आचार्यो के ज्ञान का तथा परमात्मा के निरन्तर स्मरण का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

(ञ) शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन करना :–

साधक मनुष्य को शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन और स्वाध्याय करना चाहिए। भारतीय अध्यात्म में ग्रंथों का एक विशाल भंडार हमारे समक्ष उपस्थित है, जो हमारे अध्ययन और स्वाध्याय के लिए उपलब्ध है। हमारे प्राचीनतम् ईश्वरीय ग्रंथ पवित्र वेद का जो ज्ञानकांड है, उसे वेदान्त भी कहा जाते हैं। यह ग्रंथ उपनिषदों के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। प्रमुख उपनिषद 11 है, जिनका विवरण निम्न प्रकार है। 1–ईशावास्योपनिषद् 2–केनोपनिषद 3–कठोपनिषद 4–प्रश्नोपनिषद् 5– मुण्डकोपनिषद् 6–माण्डुक्योपनिषद् 7–ऐतरेयोपनिषद् 8–तैत्तिरीयोपनिषद् 9–श्वेताश्वतरोपनिषद् 10–बृहदारण्यकोपनिषद् 11–छान्दोग्योपनिषद् ।

भारतीय अध्यात्मिक दर्शन में 6 ग्रंथ प्रमुख है जिन्हें 1–वेदान्त दर्शन 2–सांख्य दर्शन 3–योगदर्शन 4–मीमांसा दर्शन 5–न्यायदर्शन 6–वैशेषिकदर्शन है। नारद भक्ति सूत्र को भी दार्शनिक ग्रंथ की मान्यता प्राप्त है। महाभारत महाकाव्य तथा श्रीमद्भगवद् गीता भी विशिष्ट आध्यात्मिक ग्रंथ हैं। अनेक स्मृतियां, बाल्मीकि रामायण, श्रीराम चरित मानस और 18 पौराणिक ग्रंथ भी विशिष्ट हैं। इन मौलिक ग्रंथों पर अनेक भाष्य भी हमें उपलब्ध हैं। हम जितना भी अध्ययन करेंगे और स्वाध्याय से सत्य को जानने का प्रयास करेंगे तो हमें इससे बहुत आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होगा। शास्त्रों के स्वाध्याय के साथ तत्त्वदर्शी महापुरूषों का संग भी हमें आध्यात्मिक लाभ प्रदान करता है। इस प्रकार योग साधना के साधक को आध्यात्मिक ग्रंथों का निरन्तर अध्ययन करना चाहिए।

3– योग का व्यवहारिक स्वरूप :–

योग की जिन परिभाषाओं को इस पुस्तक के आरम्भ में व्याखपित किया गया था उन्हीं परिभाषाओं के आधार पर हम योग के व्यवहारिक स्वरूप को वर्णित करने का प्रयास

करेंगे। पहले योग की सिद्धि हेतु आरम्भिक अवधारणाऐं साधक को दृढ़ कर लेनी चाहिए तदोपरान्त योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले साधक को बाह्य व्यवहार का अनुकरण करना चाहिए। दो स्थितियां क्रमशः योग के साधक को पार करनी पड़ती हैं, क्योंकि जब तक मनुष्य किसी कार्य की अवधारणा नहीं करता है तथा अपनी धारण शक्ति से किसी कार्य को सम्पन्न करने की प्रबल इच्छा नहीं करता है तब तक उस कार्य का आरम्भ भी नहीं होता है और सफलता भी प्राप्त नहीं होती है। इसलिए कार्य की सफलता हेतु प्रारम्भिक तथ्य अवधारणा है तत्पश्चात् उसका दृढ़तापूर्वक विनिश्चय। इसलिए योग के साधक को प्रथमता योग पर आरूढ़ होने में जो आरम्भिक अवधारणाऐं हैं वह करनी चाहिए, जिनका वर्णन पूर्वोक्त प्रकार से हो चुका है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी दृढ़तापूर्वक अपनी भावना में रखना चाहिए कि हमें योग की सिद्धि प्राप्त करनी है तथा मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य परमात्मा का साक्षात्कार करना है। योग के व्यवहारिक स्वरूप के प्रस्तुतीकरण में हम ने पूर्व में जिन योग की परिभाषाओं को प्रस्तुत किया था उन्हीं को पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं तथा उनकी व्याख्या के आधार पर पूर्णता प्राप्त करने के उपायों का उल्लेख कर रहे हैं।

4– परमात्मा के अनन्य चिंतन को "योग" कहते हैं :–

परमात्मा का अनन्य चिंतन होने लगे तो इसे योग कहा जाएगा। जो साधक परमात्मा का अनन्य चिंतन करने लगता है वह योगी हो जाता है तथा योगी के सम्बोधन से सम्बोधित किया जाता है। इस सम्बोधन की पात्रता उसे प्राप्त हो जाती है। यह अनन्य चिंतन क्या है ? और यह अनन्य चितन किस प्रकार होगा? तथा उसका व्यवहारिक स्वरूप क्या है? और उसमें बाधाए क्या हैं ? इन तथ्यों की जानकारी इस प्रकरण में होना आवश्यक है तथा अंतिम जानकारी के रूप में यह कहा जाना चाहिए कि योग के अनन्य चिंतन की परख कैसे होगी? यह तथ्य अंतिम तथ्य है। जैसे हम संसार में कोई कार्य करते हैं तो इसमें सिद्धि और असिद्धि को स्वयं ही परख लेते हैं क्योंकि हमें अपने सांसारिक कार्य की सिद्धि और असिद्धि की परख का ज्ञान होता है इसी प्रकार योग का साधक भी अनन्य चिंतन की स्थिति को स्वयं ही परख सकता है तथा निष्पक्षभाव से उसका मूल्यांकन कर सकता है। उक्त तथ्यों को उक्त तथ्यों को क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) अनन्य चिंतन क्या है :–

परमात्मा को अचिंत्यस्वरूप कहा जाता है। अर्थात् परमात्मा चिंतन की विषय वस्तु नहीं है। इस तथ्य को इस प्रकार कहा जावे कि परमात्मा हमारे चितन में उस प्रकार नहीं

आ सकता है, जिस प्रकार हमारे चिंतन में यह संसार आ जाता है और अनेक प्रकार के सांसारिक विषय आ जाते हैं। उस प्रकार उस परमात्मा का चिंतन संभव नहीं है। यह एक विशेष तथ्य है कि परमात्मा के अनन्य चिंतन के बारे में उल्लेख आता है। व्यवहार में भी इसे किया जा पाना क्या संभव है ? जैसे वह परमात्मा इन्द्रियों से रहित है फिर भी समस्त गुणों का जानने वाला है और उसका भोक्ता है वह परमात्मा दूर से भी दूर है और समीप से भी समीप है। दूर और समीप एक दूसरे के प्रतिकूल गुण हैं। परमात्मा तो एक है परन्तु वह सम्पूर्ण प्राणियों में विभक्त हो गया है। समस्त प्राणियों के हृदय में रहता है। एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट होना भी प्रतिकूल गुण है। इसी प्रकार अचिंत्यस्वरूप का गुण है जो हमारे चिंतन के बाहर की विषय वस्तु है उसका भी चिंतन हो सकता है और वह भी अनन्य प्रकार से हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि उस परमात्मा का चिंतन किया जा सकना संभव है।

चित्त की वृत्ति चिंतन है। अर्थात् चित्त चिंतन करता है। आप जब कभी शान्त भाव से बैठते हैं या किसी विषय विशेष के बारे में विचार करते हैं तब मन एकाग्र हो जाता है और बुद्धि भी उस स्थिति में मन के साथ सहयोग करती है और संलग्न हो जाती है। आप जब कभी कोई रूचिपूर्ण पुस्तक पढ़ते हैं तो पढ़ने में उस पुस्तक के विषय का ग्रहण होता जाता है। पढ़ने के उपरान्त हम पढ़े गए विषय पर विचार करते हैं अर्थात् पुस्तक में वर्णित की गई विषय वस्तु के बारे में सोचते हैं। यह सोचना दो प्रकार का होता है। एक सामान्य रूप से दूसरे गहनतापूर्वक जब हम किसी विषय के बारे में गहनतापूर्वक चिंतन करते हैं तो हम उसमें तन्मय हो जाते हैं। इसी स्थिति को एकाग्र चित्त कहा जाता है। चिंतन में उस विषय वस्तु के विचार की तन्मयता बढ़ती है। विचार में डूबने, एकाग्र मन से किसी विषय पर विचार करने, तन्मयतापूर्वक किसी विशिष्ट विषय सोंचने की क्रिया को सहज रूप से चिंतन कहा जाता है। चिंतन करना चित्त का कार्य है जैसे हम पैरों से चलने का कार्य करते हैं। आंखों से देखने का कार्य करते हैं उसी प्रकार चित्त से चिंतन का कार्य होता है। चित्त नामक अदृश्य और अव्यक्त तत्त्व अनुभव में प्रतीत होता है। देखने में न आने वाली अनुभवगम्य गहन विचारण शक्ति हो चित्त कहा जाता है।

मनुष्य का चित्त सदैव गतिशील रहता है। वह कुछ न कुछ चितन अवश्य किया करता है। मनुष्य का समग्र चिंतन अधिकांशतः सांसारिक होता है। अर्थात् हमारे चिंतन के समस्त विषय सांसारिक हैं। संसार में जो कुछ घटित हो रहा है उसका सम्बंध हमसे हो अथवा न हो उससे प्रभावित हो अथवा न हो, हमारा उन घटनाओं से लाभ या हानि हो

अथवा न हो पर चित्त उन विषयों के बारे में भी चिंतन कर लेता है। चित्त अव्यक्त होकर भी संसार से सम्बंधित वस्तुओं और व्यक्तियों के बारे में चिंतन करता है।

चित्त अनायास ही किसी घटना को देखकर इससे प्रभावित होकर भी उस सम्बंध में चिंतन करने लगता है। हम सम्बंधित और सम्पर्कित विषयों पर अधिक चिंतन करते हैं। कभी–कभी भावुकतावश किसी घटना से प्रभावित होकर वैसा ही चिंतन करते हैं। जैसी घटना होती है। घटना क्यों हो रही है? ऐसा नहीं होना चाहिए था। आदि आदि विषयों पर भी चित्त चिंतन कर लेता है। इस प्रकार संसार के विषय में निरन्तर चिंतन किया जाना ही अन्य चिंतन कहा जाता है। अर्थात् संसार से सम्बंधित विषयों पर समग्र चिंतन, अनन्य चिंतन, भी चिंतन की अनन्यता है। अन्य में संसार के समस्त विषय आते हैं। जब साधक अन्य चिंतन की प्रक्रिया को विराम देकर परमात्मा के विषय में विचार करता है तो इस विचारण को अनन्यचिंतन कहा जाता है। अनन्यचिंतन में संसार के समग्र विषय समाप्त हो जाते है। एक मात्र परमात्मा का विषय अवशेष रहता है। यही अनन्य चिंतन की विशेषता है।

(ख) अनन्य चिंतन कैसे हो सकता है ?

मनुष्य बाल्यावस्था से युवावस्था में आता है। बाल्यावस्था से युवावस्था में आने का काल वर्षो का होता है। अर्थात् लगभग 20 वर्षो पश्चात् ही मनुष्य युवावस्था प्राप्त करता है। इन बीस वर्षो में वह संसार के सम्पर्क में रहता है। संसार के विषय को पढ़ता और सीखता है। संसार के क्रियाकलापों को देखता है और हजारों मनुष्यों के सम्पर्क में आता है। 20 वर्षो की घटनाएं उसके साथ रहती हैं और वह युवावस्था में संसार के हजारों विषयों को जान लेता है। संसार के असंख्य विषयों को जानने के कारण उसका चित्त संसार के विषयों के बारे में चिंतन करता है। युवावस्था के उपरान्त पुनः उसकी जीवन यात्रा आरम्भ होती है और वह चालीस वर्ष की आयु प्रौढ़ हो जाता है अर्थात् 20 वर्षो में वह परिपक्व होता है। बीस वर्षो की घटनाऐं उसके साथ रहती हैं। प्रौढ़ होते होते मनुष्य परिपक्वता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अग्रिम बीस वर्षो में हम बहुत लोगों के सम्पर्क में आते हैं और रहते हैं। प्रौढ़ावस्था के पश्चात् हम सभी वृद्धावस्था में प्रवेश करते हैं और इस कार्य में बीस वर्ष पुनः व्यतीत हो जाते हैं और हमारी आयु 60 वर्ष की हो जाती है। वृद्धावस्था आने तक हम पुनः बीस वर्षो में हजारों मनुष्यों और घटनाओं के सम्पर्क में आते हैं।

वृद्धावस्था में हमारा अनुभव हमारे साथ रहता है। 60 वर्षो में हमारे सम्मुख जितनी घटनाएं आती हैं ? कितने व्यक्तियों से सम्पर्क होता है, रहता है ? यह सबका सब विचारण हम 60 वर्षो के काल में करते हैं। हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि हजारों प्रकार के सांसारिक विषय अब हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं। यह समग्र विषय कभी न कभी हमारे चित्त के चिंतन में आते हैं तब चित्त संसार में डूब जाता है। जैसे एक समुद्र में एक नाव की स्थिति रहती है वैसे ही चित्त के चिंतन विषयों में रहती है। हमारा चित्त इन्हीं सांसारिक विषयों के महासमुद्र में अठखेलियां करता है। डूबता, उतराता हुआ घूमा करता है। संसार के विचारण विषय एक महासमुद्र की तरह से हैं और हमारा चित्त एक नाव के समान है वह इस महासमुद्र को पार नहीं कर सकता। एक छोटी सी नाव विशाल महासमुद्र की स्थिति की आंकलन कैसे कर सकती है ? अंततः सांसारिक विषयों के चिंतन के महासमुद्र में हम डूब जाते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

अब हम आपसे यह कहना चाहेंगे कि क्या आप उन समग्र सांसारिक विषयों के चिंतन की क्रिया को चित्त से बाहर निकाल सकते हैं। आपको यह कार्य स्पष्ट रूप से अति कठिन और दुष्तर तथा असंभव प्रतीत होगा। जिस संसार में हम वर्षो रहे हैं। उस संसार के विषय हमारे मन में असंख्य प्रकार से हैं। उन विचारों को हम अपने चित्त के चिंतन की प्रक्रिया से कैसे समाप्त कर सकते हैं। क्या यह संभव है ? कि हम सम्पूर्ण घटनाओं को अपने चित्त की चिंतन प्रक्रिया से पृथक कर दें ? ऐसा करना हमारे लिए बहुत कठिन कार्य है। यह कार्य कुछ ऐसा लगता है जैसा एक बड़े शहर के कूड़े करकट को हटाने के लिए एक व्यक्ति से कहा जाए। यह सब असंभव प्रतीत होता है। हम संसार के विषयों पर चिंतन न करे यह असंभव सा है। पर संसार के समस्त विषयों का चिंतन समग्रता से समाप्त हो तथा एक मात्र परमात्मा का चिंतन हो तो इसी का नाम योग है और वही योगी है जो संसार के समस्त विषयों को अपने मन से बाहर निकाल कर एक मात्र परमात्मा का चिंतन करें। यह असंभव सा प्रतीत होने वाला कार्य कैसे होगा ? यह हमें स्वयं विचार करना पड़ेगा।

जैसे हम अपने जीवन में अनेक प्रकार की सामग्री एकत्र करते हैं और मकान बनाते हैं। भवन निर्माण के उपरान्त हम उसमें नाना प्रकार की विलासितापूर्ण वस्तुएं तथा भोग सामग्रियों का एकत्रीकरण करते हैं और सबके उपयोग करने की इच्छा करते हैं। यथा संभव एकत्रित की गई वस्तुओं का उपभोग भी हम करते हैं जो वस्तुएं कार्य के लायक प्रतीत नहीं होती है उन्हें हम अपने आवास से बाहर निकालते जाते हैं। यह प्रक्रिया समय के साथ चलती रहती है। अर्थात् पुरानी वस्तुओं का त्याग होता है और प्रयोग योग्य वस्तुऐं

के संचय का कार्य भी साथ साथ चला करता है। हम प्रतिदिन अपने घर में शाकाहारी पदार्थ लाते हैं और उनका उपयोग करते हैं। खराब और सड़ी प्रतीत होने पर उन्हें तत्काल फेंक देते हैं, क्योंकि वे हमारे काम की नहीं हैं। प्रयोग में न आ सकने वाली वस्तुऐं हम समाप्त कर देते हैं और प्रयोग में आने वाली वस्तुएं रखते जाते हैं। उसी प्रकार हमें उन विचारों को अपने चित्त की चिंतन शक्ति से बाहर निकाल देना चाहिए जिनका उपयोग हमारे लिए नहीं है। अनुपयोगी विचारों को जबरन चित्त से खींचकर अपने चित्त के चिंतन से उन्हें बाहर कर दें जैसे हम खराब वस्तुओं को कमरे से बाहर तत्काल निकालते हैं। क्योंकि उनसे दुर्गन्ध और सड़ांध पैदा हो जाती है। हमें उस दुर्गन्ध से कष्ट होता है। वैसे ही सड़े विषयों को हमें चिंतन में कदापि नहीं रखना चाहिए और जबरन उन्हें चित्त से बाहर निकाल देना चाहिए।

आवश्यक वस्तुओं के संग्रहण के लिए मनुष्य जीता है तथा अपनी चेष्टा भर असंख्य सांसारिक भोग्य वस्तुओं को एकत्रित करता जाता है। संग्रहित की गई वस्तुऐं उपभोग भी की जाती है। आज कल एक व्यक्ति सैकड़ों प्रकार के वस्त्रों को उपयोग में लाता है। एक से बढ़कर एक असंख्य भोग वस्तुऐं एकत्र करने का प्रयास करता है और उनके सहारे जीवन जीता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह वस्तुऐं जीवन जीने के लिए आवश्यक हैं। अनेक वस्तुओं का हमारे जीवन में उपयोग नहीं भी होता है तो हम भी प्रतिष्ठा के कारण उन वस्तुओं को एकत्र करते हैं। प्रतिष्ठा के लिए, ऐश्वर्य के लिए, उपयोग के लिए समाज में अपनी पृथक् पहचान बनाने के लिए आरामप्रद विलासतापूर्ण जीवन के लिए हम अनेक वस्तुओं को उपयोग में लाते हैं पर वह सबकी सब हमारे जीवन काल तक ही हमारे लिए उपयोगी रहती हैं। हमारे जीवन के समापन के पश्चात् उनका हमारे लिए उपयोग समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार हम अपने जीवन के बारे में चाहें जो कुछ भी विचार करें यह सबका सब सांसारिक वस्तुओं की तरह निरर्थक है। सांसारिक वस्तुओं, विषयों के विचारण का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि वह सबके सब समाप्त होने वाली हैं। इस कारण हमें सांसारिक विषयों का चिंतन चित्त की विचारण शक्ति के द्वारा नहीं करना चाहिए। सांसारिक चिंतन समाप्त हो और परमात्मा का चिंतन हो इसके हमें स्वयं पुनः प्रयास करना पड़ेगा।

जैसे हम संसार के विषय में चिंतन करते हैं तो हमारा चित्त इस प्रकार के संसार के विषयों में रमता है उसी प्रकार हम परमात्मा के विषय में चिंतन आरम्भ करें। हमारा चित्त उस परमात्मा के बारे में चिंतन करे। हमें सांसारिक चिंतन के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करना पडता है। वह अनायास स्वतः स्वाभाविक रूप से होता है जैसे हम किसी विषय

पर चिंतन का प्रयास नहीं करते हैं। चिंतन के विषय अपने आप आते रहते हैं इस विषय पर आपने कभी क्या कुछ विचार किया है? कभी नहीं किया है। सांसारिक विचारों का चिंतन स्वतः चलता है। इस चिंतन को छोड़ने से प्रयास करने से हम अपने को परमात्मा की ओर मोड़ सकते हैं। हमें संसार के चिंतन से घृणा नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे हमारे में विकृति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार संसार का, संसार के विषयों का चिंतन हम करते हैं वैसे ही परमात्मा का, परमात्मा के विषयों का चिंतन आरम्भ कर दें। जैसे हम किसी स्थान पर जाने के लिए सही मार्ग और पथ का चुनाव करते हैं तथा उसका अनुकरण करते हैं वैसे ही हमें परमात्मा के चिंतन का प्रयास करना चाहिए। जिस मार्ग से हम अपने अभीष्ट गंतव्य तक नहीं पहुंच सकते हैं वह मार्ग हम स्वतः छोड़ देते हैं। वैसे ही जगत के विषयों के चिंतन का त्याग हमें करना चाहिए। सही मार्ग परमात्मा के विषय के चिंतन का है और त्रुटिपूर्ण भ्रामक मार्ग संसार के चिंतन का है। हम प्रयासपूर्वक भी संसार का चिंतन करते हैं। एक चिंतन घटना, परिस्थिति के कारण होता है। दूसरा किसी घटना की स्मृति के कारण आरम्भ हो जाता है और तीसरा अनायास भी होने लगता है। यह अनेक प्रकार के चिंतन का विषय तो संसार का ही है जो परमात्मा से सर्वथा पृथक् है। हमें संसार के विषय का चिंतन छोड़ने का प्रयास करना चाहिए और उस रिक्त होते हुए स्थान में परमात्मा के विषय को भरना चाहिए। चित्त की जो चिंतन क्षमता है वह समग्र रूप से संसार से हटकर परमात्मा में समाहित हो तथा संसार के विषयों का समापन हो। जैसे हम एक विषय पर विचार करते हैं तो यह विषय हमारे चित्त की चिंतन सामग्री हो जाता है। यदि वह संसार का विषय है तो चिंतन की यही सामग्री है। यह चिंतन की सामग्री बहुत मात्रा में है जो हमारे चित्त में समाहित हो चुकी है। चित्त में चिंतन को प्रकट कर उस पर चिंतन करने की अद्‌भुत क्षमता है। यह पूरी की पूरी क्षमता हम संसार में लगा देते हैं। कल्पना के संसार में घुसकर संसार की विषय सामग्री के चिंतन का प्रयास करते हैं। यह सबसे बड़ा अवरोध है परमात्मा के अनन्य चिंतन में।

हम संसार का चिंतन क्यों करते रहते हैं ? इस पर आप विचार अवश्य करें। जो साधक योग पर आरूढ़ होना चाहता है तो उसके लिए इस पर विचार करना उसका परम कर्तव्य है। यदि आप संसार में आरूढ़ होना चाहते हैं तो इस पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। योगारूढ़ की इच्छा वाले मनुष्य को सांसारिक चिंतन के कारण ही तलाश–खोज अवश्य करनी चाहिए। साधक को यह विचार अवश्य करना चाहिए कि हमें परमात्मा के चिंतन में डूबना है तो हम संसार के चिंतन का त्याग अवश्य कर दें और संसार के समग्र चिंतन विषय को चित्त के बाहर निकाल दें। धीरे–धीरे निकालने का प्रयास

करें और यदि न निकल रहा हो तो इसे जबरदस्ती निकाल दें। उसके स्थान पर परमात्मा के समग्र चिंतन को स्थापित करें यह क्रिया हमे करनी पड़ती है और प्रयास भी हमें स्वयं करना पड़ता हे। धीरे–धीरे संसार के विषयों के चिंतन का परित्याग करें तथा परमात्मा के विषय के चिंतन को स्थापित करें। संसार हट जाएगा तो उस स्थान पर परमात्मा के चिंतन का विषय स्थापित हो जाएगा। तब हम जैसे संसार का अनन्य चिंतन करते हैं वैसे ही परमात्मा का अनन्य चिंतन करेंगे।

(ग) अनन्य चिंतन की प्रमुख बाधाऐं :–

परमात्मा के अनन्त चिंतन की प्रमुख बाधाओं का उल्लेख किया जाना आवश्यक है, क्योंकि साधक को अनन्य चिंतन की बाधाओं के विषय को समझ कर उन बाधाओं से अपने को अवमुक्त करने का प्रयास करना चाहिए अनन्य चिंतन में वस्तुतः क्या बाधाएं है? इस पर कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जिन पर साधक को गहनता से विचार करके उन बाधाओं को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

1– स्मृति में संचित घटनाऐं :–

मनुष्य की बुद्धि में स्मृति नामक तत्त्व रहता है। यह तत्त्व विशिष्ट है। हमारे जीवन में पूर्व की घटित घटनाओं की स्मृति संचित रहती है और वे स्मृतियां स्वतः ही परिस्थिति के साथ प्रकट हो जाती हैं, जो अतीत की घटनाऐं हैं वे हमारे चिंतन में परमात्मा के चिंतन काल में बाधा के रूप में उपस्थित हो जाती हैं।

2– पूर्व में भोगे गऐ भोग :–

पूर्व में मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के इन्द्रिय सुखों का आनन्द ग्रहण करता है और उसे ऐसा करने पर सुख का आभास होता है। हम जिन इन्द्रिय सुखों का उपभोग करते हैं वे हमारी स्मृति में स्वतः ही अंकित हो जाते हैं। जब साधक परमात्मा की ओर उन्मुख होता है तब वे अतीत के इन्द्रिय सुख हमें परमात्मा के चिंतन में बाधा पहुंचाते हैं। इस प्रकार पूर्व में भोगे गऐ भोग भी परमात्मा के चिंतन में प्रमुख बाधा हैं।

3– अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियां :–

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां आती रहती हैं। जब हमारे जीवन में अनुकूल परिस्थितियां आती हैं तो हम प्रसन्नता का आभास करते हैं और जब कतिपय कारणों से प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं तो हमें दुःख और शोक का आभास

स्वतः ही होता है। इस प्रकार दोनों परिस्थितियां चाहें वह अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल हों। परमात्मा के चिंतन में बाधा उत्पन्न करती हैं। इसलिए अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियां भी परमात्मा के अनन्य चिंतन में प्रमुख बाधा मानी जाती हैं।

4– द्वेषभाव : मनुष्य की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने से अधिक गुणों वाले व्यक्ति के प्रति अथवा अपना अहित करने वाले मनुष्य के प्रति द्वेष भाव रखता है। वास्तविक तथ्य यह है कि हम अपने गुणों में पुरूषार्थ के आधार पर वृद्धि कर सकते हैं और कोई भी मनुष्य हमारा यदि अहित करना चाहे तो वह किसी भी प्रकार से हमारा अहित नहीं कर सकता है। द्वेष भाव से हमारे अंतःकरण में एक विशेष प्रकार की हलचल उत्पन्न हो जाती है। इस हलचल का उत्पन्न होना ही परमात्मा के अनन्य चिंतन में प्रमुख बाधा मानी जाती है।

5– अहंकार : अहंकार मनुष्य के शरीर में बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व है। संसार का प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार के अहंकार से आवृत रहता है। यह अहंकार नामक तत्त्व शरीर इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर विशेष प्रभाव डालता है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य का शरीर इन्द्रिय और मन अहंकार नामक तत्त्व से प्रभावित रहता है। वस्तुतः साधारण मनुष्य अहंकार के प्रभाव को उसी प्रकार नहीं जान पाता जैसे शरीर के किसी आंतरिक अंग में कोई रोग हो जाने पर हम साधारण रूप से उस रोग के बारे में नहीं जान सकते जब तक कि उसका लक्षण प्रतीत न हो अथवा उसकी जांच न हो। अहंकार से आवृत मनुष्य नाना प्रकार की चेष्टाऐं करता है और अपने मिथ्यास्वरूप का आभास करता रहता है। अहंकार के सहधर्मी तत्त्व दम्भ और दर्प भी हैं जो मनुष्य को नाना प्रकार से उसकी स्थिति के संदर्भ में भ्रमित करते रहते हैं। इस प्रकार अहंकार नामक तत्त्व भी परमात्मा के अनन्य चिंतन में प्रमुख बाधा है।

6– मोह : मनुष्य जिन वस्तुओं व्यक्तियों के साथ रहता है और उन वस्तुओं व्यक्तियों से उसे कुछ सुख प्राप्त होता है तो उनके प्रति हमारी ममता हो जाती है। हम सुख प्राप्त होने वाली वस्तुओं और व्यक्तियों को छोड़ने की इच्छा नहीं करते हैं। किसी कारणवश यदि वियोग की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो हमें इसमें बहुत दुःख का आभास होता है। यह दुख का आभास मोह के कारण ही होता है जो सुख के वियोग से उत्पन्न होता है। इस प्रकार जब हम मोह करते हैं तो संसार के विषय में ही चिंतन करते हैं और मोह से आवृत मनुष्य के लिए परमात्मा का चिंतन किया जा पाना संभव नहीं है।

7– द्रोह : आज के समाज में सम्भवतः ऐसा कोई व्यक्ति मिलना दुर्लभ होगा जिसका किसी के प्रति शत्रुभाव न हो। यह शत्रुभाव ही द्रोह कहलाता है। हमारा कोई व्यक्ति यदि अहित करना चाहे अथवा उसके मन में हमारे प्रति कोई अहित का भाव हो तो जब यह तथ्य हमारी संज्ञानता में आ जाता है तो हमारे अंतःकरण में उसके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न हो जाता है। यही शत्रुता का भाव द्रोह कहलाता है। जब द्रोह का भाव मनुष्य के अंतःकरण में आ जाता है तो उसका चित्त द्रोह के विषय में ही विचार करता है। द्रोह मनुष्य के द्वारा जो परमात्मा का चिंतन किया जाता है उसमें बाधा स्वरूप है।

8– असंतुष्टि : आज का अधिकांश मानव अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं है कोई पारिवारिक स्थिति से संतुष्ट नहीं है और कोई अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि स्थितियों से संतुष्ट नहीं रहते हैं। हमारे पास जो कुछ भी है उसमें संतुष्टि का भाव न रहना ही असंतुष्टि कहा जाता है। असंतुष्ट मनुष्य असंतुष्टि के कारणों पर बहुत चिंतन करता है तथा असंतुष्टि के निवारण के लिए प्रयत्नशील भी होता है। असंतुष्टि परमात्मा के अनन्य चिंतन में प्रमुख बाधा के रूप में उपस्थित रहती है।

9– कामनाऐं : सांसारिक जीवन में असंख्य कामनाऐं हैं। मनुष्य जब रज और तमगुण से प्रभावित रहता है तब रजोगुण के कारण सांसारिक कामनाऐं करता है और तमोगुण के कारण सांसारिक कामनाएं विकृत हो जाती हैं। दोनों ही स्थितियों में कामनाऐं हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिए बाधक हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य अधिकांश समय कामनाओं के बारे में और उनकी पूर्ति के विषय में चिंतन करता रहता है तथा परमात्मा के चिंतन से विमुख रहता है। इस प्रकार सांसारिक कामनाऐं भी परमात्मा के अनन्य चिंतन में बाधा के रूप में रहती हैं।

10– अनिष्ट की आशंका : संभवतः ऐसा कोई मनुष्य हो जो भविष्य में अपने अहित की आशंका से ग्रसित न हो यह अहित अनेक प्रकार से होता है। जैसे हम स्वस्थ हैं और किसी कारणवश अस्वस्थता प्रकट हो जाऐ तो हमें अपने शरीर के क्षय होने की आशंका हो जाती है। यह आशंका विशिष्ट प्रकार की है। इसी प्रकार हमारे पास जो कुछ धन पद प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, पारिवारिक और सांसारिक संगे सम्बंधी होते हैं उनका भी हम हित चाहते है। यदि किसी कारणवश उनके अहित की आशंका होती है तो हम अनावश्यक रूप से उनके हित लाभ के सम्बंध में चिंतन करते हैं। अनिष्ट हो अथवा न हो परन्तु हम अनिष्ट की आशंका से ग्रस्त रहते हैं। इस प्रकार अनिष्ट की आशंका भी परमात्मा के अनन्य चिंतन में बाधक है।

11– पदार्थो के संग्रह की प्रवृत्ति :–

आज के समाज में अधिकांश मनुष्य असंख्य प्रकार के सांसारिक वस्तुओं, पदार्थो के संग्रह का प्रयास करते हैं। यह पदार्थो के संग्रह करने की प्रवृत्ति मनुष्य के अन्दर इसलिए होती है क्योंकि वह सामाजिक रूप से अपने को सम्पन्न प्रकट करना चाहता है। हम जिसी किसी स्तर के मनुष्य होते हैं हम उसी स्तर की वस्तुओं को एकत्रित करने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास हमारी प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होता है और हमारा समग्र चिंतन उन पदार्थो के संग्रह करने के लिए होता है। इस प्रकार पदार्थो के संग्रह करने की प्रवृत्ति भी परमात्मा के अनन्य चिंतन में बाधक हैं।

12– अनावश्यक आशाऐं :–

आशा ही जीवन है। यह युक्ति अत्यंत प्रसिद्ध है क्योंकि मनुष्य आशाओं के कारण ही जीता है। यदि मनुष्य की समग्र आशाओं का परित्याग हो जाए तो उसका जीवन शान्त और निष्काम हो जाता है। जब तक आशाएं रहती हैं तब तक वह अशान्त भी रहता है और सकाम भी रहता है। इसलिए आशाओं की पूर्ति के लिए हम बहुत प्रयास करते हैं। कभी–कभी अधिकांश मनुष्य अनावश्यक आशाऐं करता है जिससे उसकी चिंतन प्रक्रिया बहुत प्रभावित होती है। यह अनावश्यक आशाऐं परमात्मा के अनन्य चिंतन में बाधा के स्वरूप में हैं।

13– अन्याय का प्रयास :–

नीति को मनुष्य के शुभ आचरण की संज्ञा दी जाती है। अर्थात् जो मनुष्य नीति पर चलता है वह शास्त्रसम्मत आचरण करता है और जो अनीति पर चलता है वह शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करता है। जब हम समाज में अन्य लोगों के अधिकार को छीनकर अपने स्वार्थ के हल का प्रयास करते हैं तो इसे ही अन्याय का रूप समझना चाहिए। आज सम्पन्नता प्राप्त करने के लिए बहुत से मनुष्य दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को छीनना चाहते हैं तथा उन वस्तुओं से अपने स्वार्थ को हल करना चाहते हैं और सुख की इच्छा करते हैं। जब हम अन्याय का प्रयास करते हैं तो हमारे चित्त की चिंतन प्रक्रिया बहुत प्रभावित होती है क्योंकि हम उन विषयों का विचार करते हैं कि कैसे समाज के अन्य लोगों के हित और कल्याण की वस्तुएं छीनी जाए? इस प्रकार अन्याय का प्रयास भी परमात्मा के अनन्य चिंतन में बाधा के रूप में रहता है।

साधक के द्वारा परमात्मा का अनन्यचिंतन करने का जब भी प्रयास होता है तो मनुष्य शरीर में उपस्थित अनेक दोष ही उनके अनन्य चिंतन में बाधा उपस्थित करते हैं। सांसारिक वस्तुओं की प्रियता हमें परमात्मा के अनन्य चिंतन से रोकती है क्योंकि वस्तुओं व्यक्तियों, क्रियाओं में हमें प्रियता का आभास होता है। सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओं में जब प्रियता प्रतीत होती है तो उसके चिंतन से मनुष्य में तृष्णा का भाव उत्पन्न हो जाता है। तृष्णा एक प्रकार की प्यास है जिसका हम सभी अनुभव करते हैं। जैसे प्यास में जल की इच्छा होती है, वैसे ही सांसारिक तृष्णा में संसार की वस्तुओं और स्थितियों को प्राप्त करने की इच्छा होती है। यह भी अनन्य चिंतन में बाधा उत्पन्न करती है, क्योंकि हमारा ध्यान तृष्णा की पूर्ति में लग जाता है। एक दोष से दूसरा दोष और दूसरे दोष से तीसरा दोष उत्पन्न हो जाता है। दोषों के उत्पन्न होने की क्रिया क्रमिक रूप से चलती रहती है। तृष्णा से सांसारिक वस्तुओं के प्रति लोभ भी उत्पन्न हो जाता है। लोभ इस कारण उत्पन्न होता है क्योंकि वस्तुऐं जब हमारे सम्पर्क में रहेगी तभी हमारी तृष्णा की पूर्ति हो सकेगी।

कामनाओं में विघ्न के उपस्थित होने पर अथवा किसी प्रकार का अवरोध आने पर क्रोध का प्रादुर्भाव स्वतः ही हो जाता है। उसमें किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। कामना तथा क्रोध दोनों ही अनन्य चिंतन में निरन्तर बाधा उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी कारण से अथवा अकारण ही भयग्रस्त हो जाते हैं तो भी हमारे अन्य चिंतन में बाधा आती है। प्रमाद और आलस्य भी अनन्य चिंतन में बाधा के स्वरूप में उपस्थित रहते हैं क्योंकि प्रमाद और आलस्य के कारण अनन्य चिंतन की प्रक्रिया प्राथमिक रूप से आरम्भ ही नहीं हो पाती है। किसी सांसारिक कारण से दुःख उत्पन्न होने पर अथवा शोक का प्रादुर्भाव हो जाने पर भी हमारे चिंतन में बाधाऐं उपस्थित हो जाती हैं। इस प्रकार मानव के शरीर में जो दोष हैं वे प्रमुख रूप से चिंतन में बाधा उत्पन्न कर देते हैं। इस कारण हमें आत्मावलोकन करना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि हमारे में क्या दोष है? जो भी दोष प्रतीत हों उन्हें शमन करने का और उन्हें समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए। उन साधनों को खोजना चाहिए जिससे दोषों से निवृत्ति हो सके।

(घ) अनन्य चिंतन (योग) की परख :–

संसार के सम्बंध में अर्थात् सांसारिक विषयों के बारें में हम जो भी चिंतन करते हैं उसे अन्य चिंतन कहा जाता है तथा परमात्मा के संदर्भ का जो चिंतन है वह अन्य चिंतन के प्रतिकूल होता है। जिस प्रकार हम एक काल में अर्थात् एक समय में एक ही स्थान पर

रह सकते हैं वैसे ही हमारा चिंतन या तो संसार के विषयों के बारे में होगा अथवा परमात्मा के संदर्भ में होगा दोनों प्रकार के चिंतन एक साथ नहीं हो सकते हैं। चित्त एक काल में एक ही विषय का चिंतन करने में समर्थ है। चित्त की गति चूंकि बहुत तीव्र होती है। इस कारण हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कई विषयों का चिंतन एक साथ चल रहा है, हो रहा है परन्तु ऐसा नहीं है। चित्त एक समय में एक ही प्रकरण का चिंतन कर सकता है या तो संसार के बारे में विचार कर सकता है अथवा परमात्मा के बारे में चिंतन कर सकता है। जैसे तेजी से घूमते हुए पंखे में उसके पंख प्रतीत नहीं होते हैं मात्र घेरा ही प्रतीत होता है वैसे ही चित्त की तीव्र गति के कारण हम अधिकांशतः ऐसा अनुभव करते हैं कि हम परमात्मा का चिंतन भी कर रहे हैं और सांसारिक विषयों का चिंतन भी चल रहा है परन्तु यह अन्य चिंतन है। इस प्रकार जल में विष की अत्यंत लघु मात्रा में ला देने पर भी जल दूषित हो जाता है। वैसे ही परमात्मा के चिंतन के प्रयास में संसार का थोड़ा सा भी भाव हमें अनन्य चिंतन से पृथक् कर देता है।

एक तथ्य यहां पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उत्कृष्ट साधक ही अनन्य चिंतन की ओर प्रयत्नशील होता हैं। वह सांसारिक विषयों और सांसारिक विषयों के आश्रय का परित्याग करने की प्रबल आकांक्षा करता है तथा परमात्मा के बारें में ही विचार करना चाहता है। जैसे हम सांसारिक विषयों के बारे में विचार किया करते हैं तो इसे समग्रता से अन्य चिंतन मानना चाहिए एक साधारण मनुष्य अनन्य चिंतन करता है क्योंकि वह संसार के विषयों के बारे में विचारता है कि संसार कैसा है ? संसार में जो लोग रह रहे हैं उनका सम्बंध हो जाने पर उनकी इच्छाओं की पूर्ति कैसे होगी?और हमें उनसे सुख कैसे प्राप्त होगा? ऐसा कौन सा कार्य करें? जिससे हमें सुख ही सुख प्राप्त हो। ऐसे मनुष्यों के सुख की परिभाषा में, विचारों में संसार की वस्तुओं से सुख प्राप्त होता है। मुख्यतः सामान्य मनुष्यों में यह भाव प्रबल रहता है कि हमें धन से सुख प्राप्त होगा। इस कारण धन की प्राप्ति के सम्बंध में विचार चला करता है। यह सबका सब अन्य चिंतन का विषय है, जिसमें साधारणतया संसार के लोग घूम रहे हैं, यात्रा कर रहे हैं। यही तथ्य अनन्य चिंतन में बाधा है। हमारी सोच संसार तक ही है और संसार की वस्तुओं की प्राप्ति तक उसकी सीमा है।

क्या हम संसार के चिंतन को समाप्त कर सकते हैं ? क्या हम संसार के विषयों को विचार करना छोड़ सकते हैं ? एक साधारण व्यक्ति इस प्रश्न का वही उत्तर देगा कि हम संसार के बारे में, संसार के विषयों के बारे में होने वाले चिंतन को छोड़ नहीं सकते हैं। जो साधक संसार के विषय में विचार करते रहते हैं वे योगी नहीं हो सकते। वे योग की

परिभाषा में नहीं आते। योग उनसे कोसों दूर रहता है। वे योगी की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते। इस कारण योग पर आरूढ़ होने वाले साधक को सांसारिक चिंतन से धीरे–धीरे अपने को पृथक् करने का प्रयास करना चाहिए। संसार के विषय में विचारों का समाप्त करना इतना आसान नहीं है। इस कारण योगी बनना भी इतना सहज नहीं है। संसार के विषयों में चिंतन करने वाले और सांसारिक विषयों में रमने वाले यदि अपने को योगी कहते हैं तो यह कथन मिथ्या है। हमें योगी बनने के लिए संसार के विषयों के चिंतन को समूल विनिष्ट करना पड़ेगा। जगत में क्या होता है ? जगत की क्या चेष्टाएं है ? इससे विगत हो जाना ही योग है। जो लोग सांसारिक विषयों में रमते हैं वे योगी नहीं भोगी कहलाते हैं।

हमने ऊपर जो प्रश्न किया था कि क्या हम संसार के चिंतन को समाप्त कर सकते हैं? हां हम संसार के चिंतन को समग्रता से समाप्त कर सकते हैं। इसके लिए सहजता से हमें परमात्मा के विषय में चिंतन करना पड़ेगा। संसार के बारे में विचार करते रहने के कारण परमात्मा के विषय में विचार नहीं हो पाता है। बस इतनी सी बात है जैसे हम उस स्थान पर जाने से अपना बचाव करते हैं जहां जाने से हमारे जीवन को खतरा होता है। हम उस स्थान में भी नहीं ठहरना चाहते जहां पर जीवन की प्रतिकूलताऐं उपस्थित हो जाऐं। यदि इस स्थान पर वायु दूषित हो तो उस स्थान पर श्वास लेने में हम कठिनता का आभास करते हैं और उस स्थान को शीघ्रातिशीघ्र छोड़ना चाहते हैं। वैसे ही संसार का चिंतन हमारे योगी बनने में बाधक है। इस कारण उसका परित्याग हमें करना ही पड़ेगा। हम सभी साधकों को प्रयत्नपूर्वक यह प्रयास करना पड़ता है। संसार के विषयों को चिंतन से बाहर करना पड़ेगा। यदि हमारे चित्त में संसार रह रहा है तो फिर उसे निकालने का प्रयास करना चाहिए।

हमारा समग्र चिंतन मन और बुद्धि से होता है। मन बुद्धि में संसार बस गया है, ठहर गया है। इस कारण मन और बुद्धि से परमात्मा बाहर चला गया है। यदि कोई अनन्य चिंतन का साधक अपनी परख करना चाह रहा हो कि हम परमात्मा के विषय में अनन्य चिंतन कर रहे हैं अथवा नहीं तो इसकी परख बहुत सहज है। जैसे हम जल में किसी प्रकार का रंग मिला देते हैं तो उस रंग का प्रभाव सम्बंधित जल पर स्पष्ट प्रतीत होता है। स्वच्छ जल रंगीन हो जाता है। हम जिस रंग का पानी चाहते हैं वैसा ही उसमें रंग मिला देते हैं। मन और बुद्धि की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। संसार के विभिन्न रंग रूपों से हमारे मन और बुद्धि रंगी हुई हैं। मन, बुद्धि शिशु अवस्था में स्वच्छ थी, परन्तु उसे संसार के विभिन्न रंगों में रंग दिया गया। इसलिए वह रंगीन हो गई। शिशु अवस्था जैसी रंग

रहित मन, बुद्धि पुनः आ जाए और उसमें परमात्मा का रंग आ जाए तो हम परमात्मा का अनन्य चिंतन कर सकते हैं। यह परमात्मा के अनन्य चिंतन की परख है।

हमारी मन बुद्धि में जब तक संसार रहता है तब तक परमात्मा नहीं रहता है। हम संसार की समस्त विषय वस्तुओं को मन तथा बुद्धि से बाहर निकालने का प्रयास करें। जैसे एक पात्र अर्थात् बर्तन में जब हम जल भरते हैं तो उसमें जो वायु होती है वह धीरे–धीरे बाहर निकलती जाती है और पात्र के सम्पूर्ण जल से भर जाने पर वायु स्वतः ही पात्र से बाहर हो जाती है और उस पात्र में जल परिपूर्ण हो जाता है। उसी प्रकार हमारी मन बुद्धि में संसार भरा हुआ है वह हमें बाहर निकालना ही पड़ेगा और उस रिक्त स्थान में परमात्मा को भरना पड़ेगा। जब संसार के समस्त विषय साधक बुद्धि से बाहर निकाल देता है तो मन बुद्धि के उस स्थान पर परमात्मा बैठ जाता है। अनन्य चिंतन की स्थिति है। जल से परिपूर्ण पात्र की भांति मन बुद्धि में संसार बसता नहीं है। जब संसार तथा संसार का कोई विषय मन बुद्धि में अवशेष न रहे तथा परमात्मा का स्वरूप ही अवशेष रह जाए तो साधक को समझना चाहिए कि हमारी अनन्य चिंतन की स्थिति आ गई है। ऐसी स्थिति में संसार का कोई विषय भी आ जाता है तो वह ठहरता नहीं है। यह हमारे अनन्य चिंतन की स्थिति है और हमारी परख है। यदि हम योगी बनना चाहते हैं और योग की पूर्णतः चाहते हैं तो हमें संसार के समस्त विषयों को त्याग कर परमात्मा तथा उसके विषयों को समग्रता से भरना पड़ेगा। हम अनन्य चिंतन कर योगी की पदवी से विभूषित होंगे।

5– समस्त प्रकार के संकल्पों के त्याग को योग कहते हैं :–

मन की वृत्ति संकल्प हैं अर्थात् संकल्प को मन की वृत्ति कहा जाता है। मन जो भी कार्य करता है वह अपनी वृत्ति के कारण ही करता है। वृत्ति को अगर कार्य मान ले तो यह उपयुक्त होगा। मन को अत्यंत प्रमथनशील और चंचल माना जाा है। मन की चंचलता के कारण उसके तेजी से कार्य करने के कारण ही उसे अस्थिर स्वभाव का कहते हैं। मन का स्वभाव स्थिर नहीं है। अस्थिर है। मन की वृत्ति संकल्प है का अभिप्राय है कि मन जो भी विचार करता है वह सबका सब मन की वृत्ति के अन्तर्गत ही आ जाता है। साधारण रूप से, सहजतापूर्वक समझने के लिए कहना पड़ेगा कि हम ऐसा करेंगे वैसा करेंगे, यह करना है, वह करना है आदि आदि प्रकार से मन जो विचार करता रहता है। ऐसा वैसा यह वह सबके सब सांसारिक विचार हैं जो सभी मनुष्य करते हैं। इसी में जीवन समाप्त हो जाता है। ऐसा वैसा यह वह करना समाप्त कर दें तो यह क्रिया **योग** कही जाती है और जो इस क्रिया को समाप्त कर देता है वही **योगी** कहलाता है। इस प्रक्रिया

पर विचार करने के लिए संकल्पों के प्रकार पर पहले चर्चा करना चाहेंगे जिससे समस्त प्रकार के संकल्पों को निरूद्ध किया जा सकें। यदि संकल्पों को वर्गीकृत किया जा सके तो यह उचित होगा परन्तु संकल्पों को श्रेणीबद्ध अथवा वर्गीकृत किया जा पाना असंभव है। फिर भी कुछ विशिष्ट प्रकार के संकल्पो की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है।

(क) संकल्प क्या है ? मनुष्य के जीवन में प्रमुख संकल्प क्या हैं ? जिनमें फंसकर वह संकल्पों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। कुछ प्रमुख संकल्पों का विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसे समझ कर हम प्रमुख संकल्पों के विषयों में जान सकते हैं।

(एक) धनार्जन का संकल्प :– मनुष्य साधारणतया धन के अर्जन का संकल्प करता है, क्योंकि उससे जीवन की आवश्यकताऐं पूरी होती हैं। हम जिसी किसी स्थिति में रह रहे हैं उसमें धन प्राप्ति का प्रयास करते हैं। विश्व में प्रत्येक स्तर का व्यक्ति अपने पास उपलब्ध धन से संतुष्ट नहीं है इस कारण वह निरन्तर धन प्राप्ति के संकल्प करके उसकी प्राप्ति में लगा रहता है जैसे हम भोजन करते हैं और भूख रहने तक भोजन करते जाते हैं। भूख समाप्त होने पर भोजन करना बंद कर देते हैं। यदि भूख के न रहने पर भी भोजन करते रहा जावे तो एक स्थिति ऐसी आती है कि हम फिर उससे अधिक भोजन नहीं कर सकते हैं। एक भी ग्रास और अधिक खाया नहीं जा सकता है। यह स्थिति भोजन से पूर्ण तृप्ति की स्थिति है। जिसमें भोजन के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है परन्तु यह स्थिति धन के सम्बंध में नहीं है। हम जितना भी धन उपार्जन कर लेते हैं परन्तु हमारी भूख समाप्त नहीं होती है। हम और अधिक धन को प्राप्त करना चाहते हैं और धन का असीमित संकलन करने की इच्छा करते हैं। यह मन का धनार्जन संकल्प है जिसमें आज का प्रत्येक मानव व्यस्त है वह और अधिक तथा उससे और अधिक कमाना चाहता है। यह सब मन की संकल्प वृत्ति के कारण होता है कि हम कितना भी धन प्राप्त करें ? परन्तु उसमें संतुष्ट नहीं रहते हैं।

(दो) सम्पत्ति प्राप्ति का संकल्प :– धन की तरह से मनुष्य सम्पत्ति के अर्जन में भी व्यस्त रहता है। पहले तो वह सम्पत्ति प्राप्ति का संकल्प करता है अर्थात् पहले यह विचार करता है कि हमें अमुक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती तो अच्छा रहता। सम्पत्ति प्राप्ति के विचार करने के पूर्व उसमें सुख देखता है अथवा उसके बारे में विचार करता है। यह सबका सब संकल्प के ही प्रकार हैं। आप ने आभास किया होगा कि विश्व के धनी से धनी व्यक्ति भी अनेक सम्पतियों के अर्जन में व्यस्त रहते हैं। वे समग्र विश्व को खरीदने की इच्छा रखते हैं। यह विचार रहता है अधिक से अधिक सम्पत्ति किस प्रकार से उपार्जित कर ली जावे ?

यह विचार मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति संकल्प के कारण रहता है और प्रकट हुआ करता है। प्रत्येक स्तर का व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। सम्पति प्राप्ति का संकल्प मनुष्य जीवनपर्यन्त करता रहता है। आपने कई वृद्ध महानुभावों को भी अनेक सम्पत्तियों के विषय में विचार करते हुए देखा होगा। यद्यपि वह भली प्रकार जानते हैं कि हमने आज तक जो कुछ भी प्राप्त किया है वह शीघ्र ही हमसे छूटने वाला है फिर भी सम्पत्ति की प्राप्ति के संकल्प का क्रम टूटता नहीं है। यह संकल्प की प्रबलता है। वृद्धावस्था में भी मनुष्य में यह विचार रहता है कि हम अमुक सम्पत्ति खरीद लें। इस प्रकार सम्पत्ति प्राप्त का संकल्प भी एक प्रकार का विशिष्ट संकल्प है।

(तीन) प्रतिष्ठा प्राप्ति का संकल्प :– धन तथा सम्पत्ति की तरह से मनुष्य प्रतिष्ठा भी अर्जित करना चाहता है। जगत में प्रत्येक व्यक्ति यह आकांक्षा रखते हैं कि लोग उसे जानें और उसके बारे में जानें। वर्तमान जगत में सैकड़ों क्षेत्र हैं जैसे राजनीति, विज्ञान, चिकित्सा, शिक्षा, अर्थ, वाणिज्य, खेल, पत्रकारिता, अध्यात्म, विधि, निर्माण, चल चित्र, संगीत, सूचना आदि आदि अनेक प्रकार के क्षेत्रों का वर्णन नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक क्षेत्र के हजारों लोगों की प्रतिष्ठा समस्त विश्व में फैली है। प्रत्येक स्तर के लोगों में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के लोग हैं कुछ राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर के लोग हैं तथा कुछ निम्न स्तर के हैं। प्रत्येक स्तर का मनुष्य अपने से अधिक स्तर पर जाना चाहता है। जैसे प्रादेशिक स्तर का मनुष्य राष्ट्रीय स्तर पर और राष्ट्रीय स्तर का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचने की चेष्टा करता है और वह इसके लिए बहुत प्रयास भी करता है। यह प्रयास चला करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त कर लेते है वह भी अपने को उच्च शिखर पर पहुंचाने हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। यह प्रयत्नशीलता ही प्रतिष्ठा की प्राप्ति में संकल्प का रूप है। एक साधारण उद्यमी बहुत वृहद् व्यवसाय चाहता है और वह अपने व्यसाय को विदेशों में भी फैलाना चाहता है। आज के युग में प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा हो रही है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य प्रतिष्ठा प्राप्ति के संकल्प में संलग्न है।

(चार) पद प्राप्ति का संकल्प :–

मनुष्य की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वह पद प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए प्रयत्नशील भी रहता है। राजनीति के क्षेत्र में जो पद पाना चाहते हैं वे कितना संघर्ष करते हैं ? और उन्हें इसके लिए क्या क्या करना पड़ता है ? यह वर्णन की आवश्यकता नहीं है। राजनीति के क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य जो भी क्षेत्र हैं उनमें मनुष्य पद चाहता है। पद प्राप्ति के लिए प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के उपक्रम करने पड़ते हैं। विशेषकर

राजनीति के क्षेत्र में जो भी पद हैं उनकी प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के नैतिक अनैतिक उपायों को अपनाना सामान्य बात है। पद जितना बड़ा होता है उसके अर्जन के लिए उतना ही प्रयास करना पड़ता है। राजनीति के क्षेत्र में जो पद हैं उनमें शक्ति तथा अधिकार विशेष हैं इस कारण इन पदों की प्राप्ति हेतु होड़ रहती है। एक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए अर्थात् एक विधायक का पद प्राप्त करने के लिए भी जो व्यय है वह करोड़ों रूपये है। इस व्यय के आधार पर ही आप उसकी उपयोगिता के महत्व का आंकलन कर सकते हैं। क्षेत्रीय पद की प्राप्ति हेतु जब इतना महत्व होता है तब प्रादेशिक स्तर के राजनैतिक पदों के लिए कितना महत्व होगा ? और किस प्रकार प्राप्त होगा ? इसमें कितना व्यय होता होगा ? इसे सहजता से जाना जा सकता है और उसका अनुमान भी लगाया जा सकता है। यह सब पद की प्राप्ति का संकल्प है। पद प्राप्ति के संकल्प में कितना कार्य करना पड़ता है इसको वर्णित करने की आवश्यकता नहीं है।

(पांच) सम्मान प्राप्ति का संकल्प :– संसार में प्रत्येक मनुष्य मान सम्मान, आदर चाहता है। मान सम्मान के प्रतिकूल अपमान होने पर कितना संघर्ष हो जाता है ? इसका सहजता से हम अनुमान लगा सकते हैं। यदि आप कहीं भी किसी को भी बुरा भला कहते हैं तो उसकी तीव्र प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि बुरा भला कहने से उसकी मान सम्मान मर्यादा प्रभावित होती है। आज के समाज में मान–सम्मान–आदर के लिए नाना प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं। अध्यात्मिक क्षेत्रों में भी मनुष्य नाना प्रकार के कर्मो का आचरण करता है। समाज में मान सम्मान प्राप्त करने के लिए धनपति मनुष्य कितना धन व्यय करते है? ताकि उनका समाज में सम्मान हो। यह सबका सब मान सम्मान का संकल्प है।

(छः) देवोपासना का संकल्प :–

जो मनुष्य सत्त्वगुण से प्रभावित हो जाता है वह देवी देवताओं की उपासना का संकल्प लेता है। देवी देवताओं की उपासना के सम्बंध में विचार करता रहता है। वैसे अनेक कारणों से देवी देवताओं की उपासना का विचार रहता है तथा देवोपासना से सम्बंधित क्रियाऐं भी सम्पादित होती हैं। देवोपासना की क्रियाएं प्रमुख रूप से प्रतिकूल परिस्थितियों के समापन हेतु, सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु, सुख समृद्धि के लिए, रोगों के निवारण के लिए, स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति के निमित्त होते हैं। मन में देवोपासना के विचार किसी भी कारण से आने पर मनुष्य देवोपासना का संकल्प लेता है। निष्काम भाव से जो देवोपासना की जाती है वह इस संकल्प के अन्तर्गत नहीं आती है। इस प्रकार कतिपय कारणों से मनुष्य देवोपासना के संकल्प भी करता है।

उपरोक्त प्रकार से जिन संकल्पों का वर्णन हुआ है उसके अतिरिक्त भी मनुष्य असंख्य प्रकार के संकल्प करता है। मन में जो पृथक्–पृथक् प्रकार के भाव आते हैं वह सबके सब इसके अन्तर्गत आते हैं। संकल्प में मनुष्य मन से जो भी सांसारिक विचारण करता है तथा लौकिक अथवा परालैकिक वस्तुओं की, सिद्धियों की प्राप्ति हेतु विचारता है वह सबका सब संकल्प के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

(ख) संकल्प का त्याग कैसे होता है ? :– योग की सिद्धि हेतु संकल्पों का त्याग अनिवार्य है। संकल्पों का त्याग किस प्रकार हो सकता है? इस विषय पर गहनता से विचारों उपरान्त कुछ भाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो योग की सिद्धि हेतु आधारभूत भाव हैं, उनके आचरण से संकल्पों का त्याग स्वतः ही हो जाता है तथा साधक योग सिद्धि की ओर बढ़ता है। संकल्पों का त्याग किस प्रकार होता है इस विषय पर कुछ विचारों का अवलोकन कीजिए।

(एक) प्राप्त में संतुष्ट रहने पर :– हमें परमात्मा की कृपा से बहुत कुछ प्राप्त है। जो कुछ भी हमें प्राप्त है उससे हम अपना जीवन सुखद रूप से यापन कर सकते हैं। हम विचार करें कि जीवन के लिए उपयोगी वस्तुएं क्या हैं ? और हमारी अनिवार्य आवश्यकताऐं क्या हैं ? इस पर विचार करने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि थोड़ा सा भोजन, थोड़े से वस्त्र और एक लघु आवास ही हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। परमात्मा हमें इतना देता है अवश्य उसकी यह अत्यंत कृपा है। प्राप्त में संतुष्ट होने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम अपने कर्तव्य कर्मो का अथवा अपने विकास के लिए प्रयत्न करने का यत्न ही छोड़ दें। हम जब अपने कर्तव्य कर्मो का सुचारू रूप से आचरण करते हैं तो परमात्मा हमें उसका उचित परिणाम देता है। हमारे कर्मो का फल हमें निश्चित प्राप्त होता है। बिना संकल्प के ही प्राप्त हो जाता है। इस कारण हमारी जो स्थिति है उसमें हमें प्रसन्न रहना चाहिए और जो कुछ प्राप्त है उसमें संतुष्ट रहने का प्रयत्न करना चाहिए। साधक की उत्कृष्टता बढ़ने पर वह स्वतः ही प्राप्त वस्तुओं में संतुष्ट हो जाता है और इसमें संतुष्ट रहने की प्रवृत्ति आ जाती है। ऐसी प्रवृत्ति प्रयास से नहीं लानी पड़ती जो प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहने पर संकल्पों का धीरे–धीरे स्वतः अभाव हो जाता है।

(दो) संसार की क्षणभंगुरता समझ लेने पर :–

यह जगत स्थिर नहीं है क्षणिक और परिवर्तनशील है। इस कारण इसे विकारी कहा जाता है। इस जगत का शनैः शनैः परिवर्तन हो रहा है। यह परिवर्तन हमें प्रतीत नहीं

होता, परन्तु विचार करने से और अनुभव करने से यह तथ्य समझ में आ जाता है कि यह संसार तो परिवर्तनशील है जो संसार 100 वर्षो पहले था वह आज नहीं है क्योंकि यह समय के साथ विनिष्ट हो गया। हम संसार की वस्तुओं की प्राप्ति का संकल्प वस्तुओं को स्थायी समझ कर करते हैं हम यदि संसार की परिवर्तन शीलता को समझ ले तो उसकी क्षणभंगुरता का तथ्य स्वतः ही प्रकट हो जाता है। यह जगत धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है। जगत की समस्त वस्तुएं और स्थितियां भी धीरे–धीरे समाप्त हो रही है जो पहले था वह आज नहीं है। यह तथ्य जब समझ में आ जाता है तब हम संसार की वस्तुओं की प्राप्ति का संकल्प करना छोड़ देते है अथवा छोड़ने का प्रयास करते है।

(तीन) सिद्धि असिद्धि में समान भाव हो जाने पर :–

परमात्मा की कर्म व्यवस्था निश्चित परिणामी है। निश्चित परिणामी का अर्थ है कि हम जो भी कर्म करते हैं उसका परिणाम अवश्य होता हैं हम यदि शुभ कर्म करते हैं तो उसका शुभ परिणाम होता है। अर्थात् कर्म में सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यदि अशुभ कर्म करते हैं तो परिणाम अशुभ होता अर्थात् असिद्धि प्राप्त होती है। इस कारण कर्मो की सिद्धि असिद्धि हमारे क्रियाओं पर आधारित है। जो परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर हमें निश्चित रूप से प्राप्त होती है। परमात्मा की व्यवस्था को समझ लेने के पश्चात् हम सिद्धि असिद्धि पर ध्यान नहीं देते हैं वरन् अपने कर्तव्य कर्मो का आचरण करने लगते हैं। असिद्धि जब प्राप्त होती है अर्थात् कर्मो में जब विफलता मिलती है तो उसे सिद्धि तक पहुंचाने का संकल्प लेते हैं। सिद्धि प्राप्त होने पर सांसारिक वस्तुओं को और अधिक मात्रा में प्राप्त करने का संकल्प होता है। इस प्रकार सिद्धि और असिद्धि दोनों में ही संकल्प निश्चित रूप से प्रकट होते हैं। यह एक सामान्य बात है। जब साधक कर्तव्य कर्मो का सम्पादन करता है और सिद्धि असिद्धि को समान समझ लेता है तथा परमात्मा की कर्म व्यवस्था को मानता है तो वह संकल्पों का त्यागी हो जाता है और ऐसी स्थिति में संकल्प स्वतः ही समाप्त होते जाते हैं।

(चार) अध्यात्म की ओर उन्मुख हो जाने पर :–

संसार में प्रमुख रूप से दो ही प्रवृत्ति के लोग निवास करते हैं। एक तो संसार में लिप्त होना चाहते हैं और दूसरे अध्यात्म में लिप्त होना चाहते हैं। संसार की ओर उन्मुख होने पर अध्यात्म के विषयों के प्रति विमुखता आ जाती है अथवा अध्यात्मिक विषय स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। वैसे ही अध्यात्म में उन्मुखता हो जाने पाने पर संसार में प्रवृत्ति कम हो जाती है। जिस प्रकार एक रोगी मनुष्य ज्यों–ज्यों निरोगी होता जाता है वह स्वस्थ

होता है। स्वस्थता और अस्वस्थता एक दूसरे के प्रतिकूल गुण हैं। उसी प्रकार संसार और अध्यात्म एक दूसरे के प्रतिकूल गुणों वाले हैं। अध्यात्म की ओर उन्मुख मनुष्य संसार से सम्बंध कम कर लेता है उसकी प्रवृत्ति परमात्मा की ओर हो जाती है। यह तथ्य साधक जानता है इस कारण अध्यात्म की ओर उन्मुख होने पर सांसारिक संकल्प कम हो जाते हैं। अध्यात्म में गहन प्रवृत्ति पर समाप्त हो सकते हैं। इस कारण अध्यात्म में उन्मुखता से भी संकल्पों का अभाव हो जाता है। पूर्ण अध्यात्म की स्थिति में संकल्पों का अभाव पूर्णतः से प्राप्त किया जा सकता है।

(पांच) सुख दुःख को एक समान समझने पर :–

संसार में जब हमारी परिस्थितियां अनुकूल होती हैं तो इसे साधारणतया सुख कहा जाता है तथा जब हमारी परिस्थितियां प्रतिकूल हो जाती हैं तो इसे सामान्य रूप से हम सभी दुःख कहते हैं। परिस्थितियों में अनुकूलता और प्रतिकूलता चला करती है। यह क्रम से आती रहती हैं। परिस्थितियों में अनुकूलता क्यों होती है? प्रतिकूलता कैसे आ जाती है? इसका निश्चित विज्ञान है, जिसे जब तक हम नहीं जानते हैं तब तक सुखी और दुःखी हुआ करते हैं और इस विज्ञान को समझ लेने के उपरान्त हमारी सुख दुःख में प्राप्ति का भाव सम हो जाता है। हम सभी के जीवन में दोनों प्रकार की स्थितियां आती हैं तथा इन स्थितियों के कारण हम अपने में प्रसन्नता और अप्रसन्नता का आभास करते हैं। सुख होने पर प्रसन्न हा जाना तथा दुःख होने पर शोक ग्रस्त हो जाना यह तो साधारण बात है। साधक इन दोनों के मूल कारण को जान लेता है और वह सुख दुख में सम हो जाता है। इस कारण दुःख प्राप्त होने पर शान्त भाव से रहता है और सुख की प्राप्ति का संकल्प नहीं करता है। तथा सुख प्राप्त होने पर प्रसन्नता के कारण भी संकल्प नहीं करता है इस प्रकार सुख दुख में समभाव हो जाने पर संकल्पों से निवृत्ति देखी जाती है।

(छः) शरीर को विनाशशील समझ लेने पर :–

यह मानव शरीर विनाशशील है। नष्ट होना ही इसका धर्म है। अंततः इस मानव शरीर की तीन स्थितियां होती हैं। मानव शरीर को अग्नि में जला देने पर यह राख बन जाता है। मिट्टी में दबा देने पर यह कीड़ों के रूप में परिवर्तित हो जाता है और किसी हिंसक पशु द्वारा खा लिये जाने पर यह हिंसक पशु का मल बन जाता है। इन तीन स्थितियों के अतिरिक्त इस मानव शरीर की चौथी स्थिति नहीं देखी जाती है। हमारे शरीर की भी उक्त तीन स्थितियों में एक स्थिति अवश्य होनी है, क्योंकि मानव शरीर विनाशी है। इस क्षणिक और विनाशशील मानव शरीर की वास्तविकता जान लेने पर भी इस मानव

शरीर हेतु अनिवार्य वस्तुओं को जुटाना भी समाप्त कर देते हैं। संसार का मोह स्वतः ही समाप्त हो जाता है। जब मनुष्य अपने शरीर की स्थिति के विषय में विचार करता है तो उसे शरीर की वास्तविकता जान कर उसमें तीव्र वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है। उससे सांसारिक वस्तुओं, सांसारिकता से मोह समाप्त होता जाता है। सांसारिक वस्तुओं से मोह तथा सांसारिकता के प्रति आसक्ति होने के कारण ही हम सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति का संकल्प लेते हैं। जीवन की वास्तविकता समझ लेने पर संकल्पों में भारी कमी आ जाती है और धीरे–धीरे वे संकल्प सम्पूर्णता से समाप्त होने लगते हैं।

(सात) मुक्ति की इच्छा की प्रबलता से :–

मुक्ति की इच्छा अनायास नहीं होती है। वह कतिपय कारणों से होती है और तब मनुष्य किसी भी वर्ण, आश्रम से सम्बंधित हो तो वह अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है। मुक्ति के प्रयास में मनुष्य समग्र सांसारिक कर्मो का परमात्मा में अर्पण कर देता है। परमात्मा से स्नेह करने का प्रयास करता है। परमात्मा के चिंतन को विस्मृत नहीं करना चाहता और परमात्मा की सत्ता में रहना चाहता है। यह मुक्ति की प्रबलता का स्वाभाविक गुण है। साधक को जब संसार नहीं चाहिए, परमात्मा चाहिए तो परमात्मा प्राप्ति का संकल्प होता है, और संसार की प्राप्ति का संकल्प समाप्त हो जाता है। संसार की प्राप्ति के संकल्पों का समापन होना ही योग कहा जाता है। मुक्ति की इच्छा की प्रबलता से अनायास ही संकल्पों का परित्याग होता है।

(ग) संकल्पों के त्याग की परख :–

पूर्व में भी वर्णित किया जा चुका है मन की वृत्ति संकल्प है। मन से संकल्प की समाप्ति आध्यात्मिक पूर्णतः की परख होती है। जो संकल्पों को समाप्त कर देता है वह योगी हो जाता है। शास्त्रों का स्पष्ट मत है कि संकल्पों के त्याग के बिना कोई योगी नहीं हो सकता है। इस कारण योग की पूर्णता अर्थात् योगी होने के लिए हमें संकल्पों के त्याग की अनिवार्यता रहती है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति रूपी संकल्प त्याग कर हम अपनी परख कर सकते हैं कि हम योग की इस परिभाषा में आते हैं अथवा नहीं आते हैं। इस सम्बंध में कुछ उपाय वर्णित हैं, जिनसे हम संकल्प त्याग की परख कर सकते हैं।

1– धन प्राप्ति की इच्छा मन से त्याग करें और यह निरीक्षण करें कि मन में धन प्राप्ति की इच्छा तो नहीं रह गयी है। धन प्राप्ति की इच्छा बड़ी प्रबल होती है क्योंकि वह शीघ्रता से नष्ट नहीं होती है। धन से संसार के समस्त कार्य चलते हैं। इच्छा न होने पर भी धन

स्वतः प्राप्त होता है जैसे हम इच्छा करें चाहे न करें परमात्मा हमारे लिए इच्छित पदार्थो की व्यवस्था स्वयं ही और स्वतः ही करता है। इसी प्रकार यह धन की इच्छा का त्याग होना है। यह आत्मनिश्चय से हो सकता है। धन की इच्छा के संकल्प को जबरदस्ती बाहर निकाले।

2– सम्पत्ति जो है वह तो है ही। हमारे मन में अन्य सम्पत्तियों की प्राप्ति की इच्छा का अभाव होना चाहिए। हमारे पास जो है वह पर्याप्त है उससे हमारी जीविका का निर्वाह हो सकता है। ऐसी भावना से मन में सम्पत्ति की इच्छा का त्याग हो जाता है। मनुष्य जब यह आभास कर लेता है कि हमने जो भी कमाया है और उसमें जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है वह अंततः छूटने वाली है। जीवन तक ही साथ देती है। जीवन के पश्चात् हमारे द्वारा उपार्जित सम्पत्ति हमारी नहीं रहेगी वह अन्य की हो जाएगी। कल भी वह किसी अन्य की थी कल भी वह किसी अन्य की हो जाएगी।

3– हमारे शुभ कर्मो के उपरान्त परिणाम के रूप प्रतिष्ठा हमें स्वतः प्राप्त होती है जैसे इत्र की सुगन्ध वायु में स्वतः ही फैलती है उसे फैलाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। वैसे ही साधक की साधना, तपश्चर्या का परिणाम सुगन्ध की तरह से समाज में फैलता है और साधक स्वतः ही प्रतिष्ठित हो जाता है। इस भाव से हम प्रतिष्ठा की प्राप्ति का विचार मन से त्यागें। यह प्रतिष्ठा की प्राप्ति का संकल्प का परित्याग है।

4– हम जितने विशाल अधिकार सम्पन्न पद के स्वामी होते हैं उतने विस्तृत हमारे कर्तव्य और दायित्व हो जाते हैं। एक सम्राट को अपनी प्रजा की रक्षा, पालन, पोषण का गुरुतर दायित्व निभाना पड़ता है। यदि सम्राट के राज्य में कोई प्रजा दीन हीन रहती है तो उसका परिणाम सम्राट को अवश्य भुगतना पड़ता है। इसी कारण जीवन निर्वाह के लिए यह छोटा से छोटा पद प्राप्त हो जावे तो सही रहता है। इस भाव से पद के संकल्प की इच्छा का परित्याग हो जाता है।

5– हमारा समस्त मान सम्मान हमारी स्थिति पर प्राप्त होता रहता है। जैसी हमारी स्थिति होती है। वैसा ही हमें सम्मान मिलता है। साधना के साधक को सम्मान स्वतः ही मिलता है और सिद्ध को सिद्ध का सम्मान मिलता है। यह मान सम्मान की इच्छा से सम्मान नहीं मिलता है। यह तथ्य समझ लेने पर मान सम्मान के संकल्पों का अभाव हो जाता है।

6– देवताओं की उपासना निष्काम भाव से की जाए तो वह हमारे लिए अत्यंत लाभकारी होती है। इस कारण सकाम भाव से देवी देवताओं की उपासना हमें कभी भी नहीं करनी

चाहिए। हम जब देवी देवताओं की उपासना निष्काम भाव से करते हैं तो वह हमें अपने अधिकार क्षेत्र की वस्तुओं को स्वतः ही दे देते हैं। इस प्रकार यह भाव समझ लेने पर मनुष्य में देवोपासना रूपी संकल्प का अभाव हो जाता है, वे स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

अन्य प्रकार के जो भी संकल्प हैं जिनसे सांसारिक तथ्य जुड़े हैं उनका परित्याग कर देना चाहिए। मन में जब तक सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के भाव रहते हैं तब तक संकल्पों का अभाव नहीं रहता है और सांसारिक संकल्पों का अभाव न होने से हम योगी बन सकते हैं। यदि हमें योगी होना है तो संसार की वस्तुओं के प्रति मोह समाप्त करना पड़ेगा। जो लोग संसार की वस्तुओं का मोह उनकी प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे योगी कदापि नहीं हो सकते और न ही उन्हें योगी की परिभाषा से विभूषित किया जा सकता है।

6– चित्त वश में होना, चित्त का स्वस्वरूप में स्थित होना तथा स्पृहारहित हो जाना योग है :–

योग की तीन विशिष्ट स्थितियां हैं जिन्हें साधक को प्राप्त करना पड़ता है। यदि साधक उन तीन सीढियों को प्राप्त कर लेता है तो भी वह योगी हो जाता है। जिन स्थितियों का उल्लेख उपरोक्त प्रकार से वर्णित हुआ है। उन्हें समझने की आवश्यकता है। चित्त कैसा है और वह कैसे प्रवृत्त होता है ? अपने स्वरूप की स्थिति क्या है ? और वह कैसे हो सकती है ? स्पृहारहित होना क्या है ? और कैसे स्पृहारहित हुआ जा सकता है? आदि आदि तथ्यों को समझना आवश्यक है। उक्त तथ्यों पर क्रमशः विस्तार से विचार किया जा रहा है–

(क) चित्त क्या है ?

चित्त के सम्बंध में इस पुस्तक के प्रारम्भ में ही कुछ संकेत किया गया था तथा चित्त को समझने के लिए पृथक् पृथक् अवधारणाओं का भी उल्लेख हुआ था। यहां पर चूंकि चित्त को वश में कर लेने पर येाग की सिद्धि कही जाती है, इसलिए चित्त के सम्बंध में पुनः कुछ विचार प्रस्तुत करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

मनुष्य शरीर में चित्त अंतःकरण का एक भाग है, जिससे मनुष्य चिंतन रूपी कार्य करता है। अंग्रेजी भाषा में इसे **Meditation factor या Thinking faculty** कहा जाता है। चित्त के इस स्वरूप के सम्बंध में मनीषियों मतभेद है। कुछ मनीषी अंतःकरण चतुष्टय में इसका वर्णन करते हैं और कहते हैं कि अंतःकरण के चार भाग होते हैं जिसे

मन बुद्धि चित्त और अहंकार कहा जाता है। कुछ मनीषीगण अंतःकरण के तीन ही भाग मानते हैं जिन्हें मन बुद्धि तथा अहंकार कहा जाता है तथा वे चित्त को मन का स्वरूप कहते हैं। हमें चित्त का निर्धारण अपने अनुभव के आधार पर करना चाहिए और विचार करना चाहिए कि चित्त क्या वस्तु है? और वह कैसे कर्म करता है ? उसकी क्रिया पद्धति क्या है ?

चित्त की वृत्ति चिंतन है। अर्थात् चित्त चिंतन का कार्य करता है। सांसारिक विषय प्रमुखता से चित्त के चिंतन के पदार्थ हैं, जिन पर चित्त की क्रिया पद्धति आधारित है। प्रातः से रात्रि तक यह कार्य चलता रहता है। चित्त की प्रतीति स्वप्नावस्था में भी होती है। जैसे प्रातः जागने पर मनुष्य यह विचार करता है कि हमें आज क्या क्या कार्य करने हैं? और किस प्रकार से करने हैं? यह कार्यो का विचारण करना चित्त का कार्य है तथा उन कार्यो का क्या स्वरूप होगा ? तत्पश्चात् क्या करने के संकल्प पर चित्त चिंतन करता है ? प्रातः से रात्रि तक जो भी क्रियाएं होती हैं वह सबकी सब चित्त के चिंतन से ही होती है। हम प्रत्येक पल की, समय की, दिन की क्रिया प्रणाली के बारे में चितन करते हैं तथा भविष्य के बारे में बहुत विचार करते हैं। कब क्या करना है? अमुक माह में हमें क्या करना है ? यह सबका सब चिंतन चित्त के द्वारा हुआ करता है। इसी प्रकार संसार का उसकी क्रियाविधि का और सांसारिक संलग्नता का समग्र चिंतन चित्त के द्वारा होता है।

चित्त सांसारिक विषयों का बहुत शीघ्रता से चिंतन करता है। उसकी विचार शक्ति बहुत प्रबल है। हमारे समग्र जीवन में चित्त के चिंतन का ही प्रभाव रहता है। जैसा चित्त विचार करता है वैसा ही हम कार्य करते हैं। चित्त शुभ कर्मो के बारे में विचार करता है तो मनुष्य शुभ कर्म करने लगता है और चित्त यदि अशुभ कर्मो का चिंतन करना है तो अशुभ कर्म मनुष्य के द्वारा स्वतः ही सम्पादित होते हैं। इस कारण हमारे समस्त कर्मो का आधार चित्त को ही मानना चाहिए। समग्र कार्य चित्त के चिंतन से किये जाते हैं, इसलिए हमें चित्त को नियंत्रित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। चित्त चूंकि हमारे समग्र कर्मो का आधार है, इसलिए एक साधक को इस पर निरन्तर दृष्टि रखनी चाहिए।

(ख) चित्त पर नियंत्रण आवश्यक क्यों है ? :–

संसार में दो ही वस्तुऐं हैं जिन्हें अच्छी तथा खराब अथवा शुभ या अशुभ कहा जाता है। समाज में शुभाचरण भी होता है और अशुभ व्यवहार भी होता है। शुभ आचरण करने वाले को सम्मान प्राप्त होता है, उसकी पृथक् स्थिति रहती है तथा अशुभ–असामाजिक आचरण करने वाले की छवि समाज में अच्छी नहीं रहती है। वह अनेक प्रकार से समाज में

आलोचना का शिकार होता है। हमारे असमाजिक कर्म समाज में हमारी छवि खराब करते हैं चूंकि समस्त कार्य चित्त के द्वारा चिंतन किए गए विषयों के आधार पर ही होता है। इस कारण चित्त को नियंत्रित करके शुभ विचार किये जाने के लिए बाध्य करना चाहिए। शुभ चिंतन से अनायास ही शुभ कर्म होने लगते हैं और हमारी छवि एक सामाजिक व्यक्ति की हो जाती है। इस कारण हमारे चित्त पर नियंत्रण होना आवश्यक है, ताकि चित्त उचित विचार कर सके और असमाजिक चिंतन का परित्याग कर सकें।

(ग) चित्त क्या चिंतन करता है? :–

हम सभी का चित्त सामान्य रूप से सांसारिक विषयों का निरन्तर चिंतन करता रहता है। उसके चिंतन के विषय परिस्थितियों पर आधारित होते हैं। कभी–कभी परिस्थितियों को छोड़कर भी अन्य विषयों का चिंतन करता है। यह चित्त की प्रबलता चितंन शक्ति का प्रतीक है। चित्त के चिंतन के विषय को यद्यपि सम्पूर्णता से वर्णित किया जाना असंभव है, फिर भी चित्त के विचार करने वाले विषयों के सम्बंध में कुछ तथ्य अवश्य ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। चित्त के चिंतन किये जाने वाले कुछ विषयों का अवलोकन कीजिए।

(एक) वर्तमान में हमारे समक्ष क्या कार्य हैं? और उन कार्यो को हम किस तरह से सम्पादित कर सकते हैं ? क्या वे कार्य सम्पादित किया जा पाना संभव है अथवा उन कार्यो के सम्बंध में क्या क्या कठिनाईयां हैं। वे कठिनाईयों किस प्रकार से हल हो सकती है? इस समग्र विषय पर चित्त गहनता से चिंतन कर लेता है।

(दो) हमारे जीवन का निर्वाह कैसे होगा? तथा भविष्य में हमारा विकास कैसे होगा ? भविष्य में हमें किन कर्मो का सम्पादन करना है इस सम्बंध में भी चित्त का चिंतन चलता है। चूंकि हमारा सभी कुछ भविष्य के गर्त में डूबा हुआ है, इस कारण सामान्य रूप से चित्त भविष्य के विषयों का भी चिंतन निर्बाध रूप से करता है और काल्पनिक विषयों का निर्धारण करता रहता है।

(तीन) हम सब अतीत में बीते हुए कार्य से गुजर चुके हैं जो घटनाऐं पूर्व में घटित हुई हैं वे सबकी सब स्मृति के रूप में संचित रहती हैं। पूर्व में घटित घटनाओं के बारे में कभी–कभी चित्त विचार करता है। इस प्रकार का विचार किसी भी कारण हो सकता है अथवा परिस्थितियों के आधार पर भी संभव है।

(चार) वैसे चित्त आवश्यक विषयों के बारे में चिंतन तो करता ही है और अधिकांश अनावश्यक विषयों के बारे में भी चिंतन करता रहता है। जिन विषयों का हमसे, स्वयं से सम्बंध नहीं होता है वे अनावश्यक कहे जाते हैं। इस कारण सम्बंधित विषयों पर तो चित्त चिंतन करता है, कभी–कभी असम्बंधित विषयों को भी अपनी चिंतन सीमा में ले लेता है।

(पांच) चित्त के चिंतन के प्रमुख विषय तात्कालिक ही होते हैं और पूर्वकालिक भी होते हैं। चित्त को प्रत्येक के बारे में विचार करने की अद्‌भुत क्षमता प्राप्त है, इस कारण चित्त समस्त विषयों पर गहनता से विचार कर लेता है। किसी भी प्रकार के विषयों को विचारित करने की क्षमता के कारण चित्त मानव शरीर में विलक्षण तत्त्व है।

(घ) चित्त कैसे वश में होता है ?

चित्त की विचार शक्ति की प्रबलता और गतिमानता के कारण इसका वश में किया जाना इतना सहज नहीं है। चित्त को अनावश्यक विषयों बारे में चिंतन करने से रोका जा पाना ही उसका वश में किया जाना है। जो विषय हमें विचार में नहीं लाने चाहिए, उन पर चित्त चिंतन न करें तो यही चित्त को बस में किये जाने का कार्य है। चूंकि चित्त अनेक अनावश्यक सांसारिक विषयों के बारे में चिंतन करने लगता है इस कारण वह सहजता से वश में नहीं रहता हैं। हम जिस किसी विषय का चिंतन करना चाहें वह विषय चित्त विचार करें तो यह आवश्यक चिंतन है। हम जिस विषय का चिंतन नहीं करना चाहें और वह उस विषय का चिंतन करने लगे तो यह अनावश्यक चिंतन है।

चित्त की चिंतन वृत्ति अधिकांशतः सांसारिक विषयों और भोगों में रहती है। इस कारण उसका चिंतन भोगों की ओर उन्मुख रहता है। इस प्रकार सांसारिक विषयों का चिंतन एक लम्बे अंतराल से हम कर रहे हैं। इस कारण सांसारिक विषय भोगों की ओर हमारा चित्त अनायास ही अग्रसर होता है और सांसारिक विषय भोग हमें अपने चिंतन में बाध्य करते हैं। यह तथ्य उसी प्रकार का है जैसे चुम्बक लोहे के पदार्थो को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जैसे ही लोहे के पदार्थ चुम्बकीय पदार्थ के सम्पर्क में आते हैं तो वह स्वतः ही आकर्षित हो जाते हैं। वैसे ही जो सांसारिक विषयों में प्रियता है और आनन्द का अनुभव है वह चित्त को अपनी ओर अनायास ही आकृष्ट करने की क्षमता रखता है। सांसारिक भोगों को चुम्बक के समान ही समझना चाहिए।

सांसारिक भोगों के चिंतन से चित्त को रोकना एक साधक का विशिष्ट कार्य है। जब साधक यह बात दृढ़ता से अपने अंतःकरण में बिठा लेता है कि सांसारिक भोग हमारे

लिए उचित नहीं हैं उपयुक्त नहीं हैं, कल्याणप्रद नहीं हैं तो वह उनके प्रति घृणा बुद्धि रखता है। सांसारिक भोगों के प्रति घृणा बुद्धि रखने से उनसे दुराव हो जाता है। चित्त की यह वृत्ति है कि वह घृणास्पद तथ्यों के बारे में स्वतः ही विचार करना छोड़ता है जैसे हमें कोई वस्तु भयानक प्रतीत हो तो हम उसके समीप नही जाना चाहेंगे और न ही उसके बारे में विचार करना चाहेंगे क्योंकि वह हमारे लिए हानिप्रद प्रतीत हो रही है। भयानक वस्तुओं से इसी कारण हमें घृणा हो जाती है और हम उन्हें तत्काल त्यागना चाहते हैं। संसार में अनन्त विषय भोग हैं, जिनमें हमें सुख और आनन्द का आभास होता है, परन्तु उनका परिणाम अंततः दुःख ही होता है। यदि उनका परिणाम हमें ज्ञात हो जाऐ और यह बात समझ में आ जाऐ कि समस्त सांसारिक विषय भोग दुःख के कारण हैं तो हम उन्हें त्यागने का विचार करेंगे और उस सम्बंध में अनावश्यक चिंतन छोड़ देंगे। जब सांसारिक विषय भोगों के बारे में अनावश्यक चिंतन समाप्त हो जाएगा तो हमारा चित्त स्वतः ही बस में हो जाएगा।

यहां पर एक तथ्य आवश्यक है कि हम यदि सांसारिक भोगों से घृणा बुद्धि करके उनके बारे में चिंतन करना छोड़ देगे तो भी हमारा चित्त कुछ न कुछ चिंतन अवश्य किया करता है। इसी कारण शास्त्रों ने अपने चित्त को परमात्मा की ओर लगाने का निर्देश दिया है। संसार से चित्त हटे और परमात्मा में लगे इस क्रिया से चित्त धीरे–धीरे वश में हो जाता है तब संसार से चित्त पूरी तरह हट के परमात्मा में समाहित हो जाता है तो इसे चित्त का पूरी तरह से वश में होना कहा जाता है। यह क्रिया धीरे–धीरे हमें करनी पड़ती है। संसार में घृणा बुद्धि उत्पन्न करके संसार के त्याग का कार्य और परमात्मा से स्नेह करके उसके चिंतन का कार्य हमें स्वयं ही करना पड़ेगा। चंचल चित्त के वश में हो जाने पर मनुष्य योग की पूर्णतः को प्राप्त हो जाता है और चित्त की प्रमथनशील वृत्तियां वश में हो जाती हैं। ऐसे साधक को योगी कहा जाता है।

(ङ) अपने स्वरूप में स्थिति :–

मनुष्य में जो चैतन्यता है वह परमात्मा के अंश जीव के कारण हैं। जीवात्मा को शरीर में त्रिगुण बांध देते हैं अर्थात् सत्त्व, रज, तम जीव को शरीर में बंधन देते हैं। सात्त्विक गुण जीव को सुख की आसक्ति से बांध देता है। रजोगुण जीव को कर्म की आसक्ति से बांधता है और तमोगुण ज्ञान को आच्छादित करके निद्रा, आलस्य और प्रमाद से जीव को शरीर में बांधता है। यही जीव के बंधन का प्रमुख कारण है। हम जब वास्तविक रूप से परमात्मा के अंश हैं, यह तथ्य हमने भुला दिया है। विस्मृत कर दिया है।

इसका स्मरण क्यों नहीं है ? इस पर हमें विचार करना चाहिए। हमारा स्वरूप तो परमात्मा का अंश है और उस अंश के रूप में स्थित है, परन्तु हम अपने को अधिकारी, राजनीतिक, चिकित्सक, वैज्ञानिक, न्यायाधीश, शिक्षक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि मान लेते हैं। यह मानना ही अपने स्वरूप के प्रतिकूल स्थिति है।

बड़ी विडम्बना है कि जो हम हैं नहीं उसको हमारे द्वारा स्वीकार किया जा रहा है और हम जो हैं उसे अस्वीकार किया जा रहा है। यदि आप किसी से यह प्रश्न करें कि आप क्या है ? तो इस प्रश्न के उत्तर में वह जो कुछ कार्य कर रहा है अथवा उसका जो कुछ वर्णाश्रम धर्म है वही इस प्रश्न के उत्तर में कहेगा। मनुष्य अपने को मनुष्य समझता है स्त्री अपने को स्त्री समझती है और हम जो भी इस संसार में हैं वैसा ही अपने को समझते हैं तथा वैसा ही व्यवहार करते हैं। हम यदि अधिकारी हैं तो हम वैसे ही व्यवहार करते हैं। क्योंकि हमने अपने अधिकारी होने का भाव दृढ़ता से मन में बैठा लिया है। यह भाव मन से बाहर नहीं हो रहा है। हम वस्तुतः अधिकारी नहीं है परन्तु अधिकारी होने का मिथ्या आभास और भाव अपने अंतःकरण में दृढ़ किये हुए हैं। यह स्वस्वरूप में स्थिति के प्रतिकूल तथ्य है।

जगत में हम अपने को जो भी समझ रहे हैं वैसा ही व्यवहार करते हैं और जो नहीं समझते हैं तो वैसा व्यवहार भी नहीं करते हैं। जैसे नाटक में कोई व्यक्ति साधु बन जाता है तो वह साधु के वस्त्र पहनता है दंड कमण्डल ले लेता है और दाढ़ी आदि लगा लेता है। ऐसा बना हुआ साधु मंच पर साधु की तरह से ही बोलता है और व्यवहार करता है। आशीर्वाद देता है परन्तु वास्तविक रूप में वह साधु नहीं है। जैसे ही नाटक का मंचन समाप्त होता है हम अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है। एक मनुष्य मंच पर विश्वामित्र मुनि की भूमिका निभा रहा है तो नाटक समाप्त होते ही वह पुनः वही बन जाता है जो वह वस्तुतः है।

यदि किसी व्यक्ति का नाम राम कुमार है तो हम उसके वास्तविक नाम से जब उसे पुकारते हैं तो वह हमारी ओर उन्मुख होता है। वही व्यक्ति मंच पर यदि विश्वामित्र की भूमिका करेगा तो उसे यह तथ्य ज्ञात रहता है कि हम विश्वामित्र नही है राम कुमार है। वैसे ही कोई मनुष्य नाटक में एक राजा की भूमिका निभाता है, तो उसके आदेश से मंच पर सभी कार्य होते हैं। वह मंच पर अपने सहयोगी मंत्रियों को नाना प्रकार के आदेश देता है और सहयोगी मंत्री भी इसका पालन करते हैं। नाटक में मंच पर उसी राजा का आदेश चलता है और जैसे ही नाटक समाप्त होता है राजा की भूमिका में रहने वाला मनुष्य एक

सामान्य व्यक्ति हो जाता है और उसके राजा के समस्त अधिकार समाप्त हो जाते हैं। वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसे मंच पर भी अपने वास्तविक स्वरूप का बोध रहता है कि वह राजा बना हुआ है। वस्तुतः वह राजा नहीं है। स्वरूप का बोध होने पर राजा का आवरण और आचरण छोड़कर वह सामान्य व्यक्ति की ही तरह आचरण करता है।

इसी प्रकार हमने भी अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दिया है। हम जो वास्तविक रूप से हैं उसका हमें आभास समाप्त हो चुका हैं। संसार के रंग मंच पर नाटक के समान हम अपनी भूमिका निभा रहे हैं, परन्तु हम संसार में जो भूमिका निभा रहे हैं वह हम नहीं हैं। यह तथ्य हमने दृढ़ता से अंतःकरण में बिठा लिया है कि हम जो संसार में हैं वही हैं। यही हमारे स्वस्वरूप की विस्मृति का मुख्य कारण हैं। हमें यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हम संसार में जो कुछ भी हैं वह नहीं हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप तो जीव का है, जो परमात्मा का अंश है। यह ज्ञात होने पर भी हम अपने स्वस्वरूप को भूलकर संसार के स्वरूप को प्रमुखता दे रहे हैं। यही हमारी भूल हैं। हम अपनी मिथ्या स्थिति को स्वीकार कर रहे हैं और अपनी वास्तविक स्थिति को भूल रहे हैं। यदि हम अपनी वास्तविक स्थिति को स्वीकार कर लेंगे तथा मिथ्या स्थिति को भूल जायेंगे तो हम स्वस्वरूप में अनायास ही स्थित हो जायेंगे।

(च) स्वस्वरूप में स्थिति न होने के कारण हमें सुख दुःख की प्रतीति होती है :–

एक महिला ने नाटक में बालि की पत्नी तारा की भूमिका ग्रहण की और उसका मंचन जब आरम्भ हुआ तो वह बालि की मृत्यु पर बहुत रोई। उसका विलाप देखकर दर्शकगण विशेषकर महिलाऐं बहुत भावुक हो गई। वे भी उस महिला का रूदन देखकर स्वयं भी रोने लगी। तारा के विलाप ने दर्शकों के मन पर तीव्र प्रभाव दिखाया। पूरा वातावरण ही शोकग्रस्त हो गया। वह वैसा ही शोक था जैसा की एक पति की मृत्यु पर होता है। तारा ने यद्यपि नाटक में भूमिका को बहुत कारूणिक रूप से प्रस्तुत किया था इस कारण दर्शकों के बीच सम्पूर्ण वातावरण शोकमय हो गया। यह स्थिति एक रंगमंच तक ही सीमित है। नाटक जब समाप्त हुआ वह तारा के रूप में भूमिका निभाने वाली महिला ने अपने वास्तविक वेश को धारण कर लिया और बोली मुझे बहुत तेज भूख लगी है। तुरन्त खाना लाओं। अभी जो महिला कुछ क्षणों पहले अपने पति की मृत्यु पर विलाप कर रही थी और उसके विलाप से हजारों लोग भी रो रहे थे वह अपने वास्तविक रूप में आकर पति की मृत्यु रूपी दुःख से विमुक्त हो गई। अब वह आनन्दपूर्वक भोजन कर रही

है और कह रही है कि आज भोजन बहुत अच्छा बना है। खाने में आनन्द आ गया। कुछ क्षणों में ही वह अपने विलाप को भूल गई क्योंकि वह अपने वास्तविक स्वरूप में आ गई और उसे पति की मृत्यु का दुःख समाप्त हो गया। जब तक वह तारा नकली स्वरूप में थी तब तक वह दुःख की प्रस्तुति कर रही थी और रो रही थी। उसका विलाप वास्तविक स्वरूप के न जानने के कारण ही था। वास्तविक स्वरूप में आने पर वह सुख दुःख समाप्त हो गया।

हमें भी सुख और दुःख की जो प्रतीति होती है अर्थात् हम कभी सुखी होते हैं ओर कभी दुःखी होते हैं। इसका कारण हम अपने स्वरूप में स्थित न होने के कारण ही होते हैं। स्वरूप में स्थिति समझ लेने से और अपनी वास्तविक स्थिति का आभास कर लेने से होती हैं। हम जगत में रह रहे हैं और जगत में जो भी हैं वैसा ही अनुभव करते हैं, आभास करते हैं तथा व्यवहार भी करते हैं। हम जगत में जो हैं वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। हम जगत में जो हैं वैसा आचरण करके हम अपने तथा जगत के व्यवहार से दुःखी होते रहते हैं और कभी अनुकूलताओं में सुख की प्रतीति भी करते हैं। जैसे एक राजा नाटक में पात्र बनता है। वह मंच पर राजा के रूप में प्रसन्न होता है। वैसा ही हमारा आचरण इस जगत में रहता है। यह स्थिति स्वरूप के बोध तथा वास्तविकता के प्रतिकूल है। जब तक मनुष्य को अपने स्वरूप अपनी वास्तविक स्थिति का बोध नहीं होता है तब तक उसे सुख और दुःख का आभास रहता है। जब उसे वास्तविक स्थिति का बोध हो जाता है तब उसके सुःख दुःख का आभास समाप्त हो जाता है। उसे सुख का भी आभास नहीं होता और दुःख का आभास भी नहीं होता। यह उसकी वास्तविक स्वरूप की स्थिति की परख है। जो मनुष्य इस जगत में सुखी और दुःखी है, वह अपने स्वरूप में स्थित नहीं है तथा योगी भी नहीं है।

(छ) स्वरूप में स्थिति कैसे हो सकती है ?

हमारी स्वस्वरूप में स्थिति कैसे हो सकती है? यह भी अत्यंत विचारणीय प्रश्न है। यद्यपि यह क्रियात्मक पक्ष है तथा अनिर्वचनीय है अर्थात् इसे वाणी से प्रकट किया जा पाना संभव नहीं है, फिर भी इधर संकेत किया जा सकता है। मनुष्य प्रयास से स्वस्वरूप में स्थित हो सकता है। अपने को स्थापित कर सकता है उसे स्वस्वरूप का ज्ञान हो सकता है। यद्यपि यह प्रयासरहित है। मनुष्य को स्वयं स्वतः ही इसकी अनुभूति हो जाती है। जैसे एक नाटक के कलाकार को नाटक के पश्चात् वास्तविक स्वरूप की स्थिति बिना प्रयास के अनायास ही, स्वतः ही होती है उसे बताना नहीं पड़ता है कि वह क्या था ? वह स्वतः

नाटक के उपरान्त यह जान जाता है कि हम इस भूमिका में थे और वह भूमिका हमें प्रदान की गई थी तथा क्षण मात्र के लिए थी अब वह समाप्त हुई अब हम अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो गए। हम जो भी थे वह पुनः हो गए। यह स्थिति उस पात्र को स्वतः संज्ञान में आ जाती है। अब आप समझ गए होंगे कि स्वरूप का बोध बिना प्रयास के ही होता है फिर भी प्रयास करना आवश्यक है। जैसे योग की पूर्णतः में अनेक प्रकार की सिद्धियां योगी को प्राप्त हो जाती हैं वह दूर देश में तत्काल जा सकता है। दूर देश में कोई बातचीत को सुन सकता है तथा जल पर चल सकता है आदि आदि। परन्तु इस स्थिति को लाने के लिए एक साधक को बहुत प्रयत्न करना पड़ता हैं। उसी प्रकार स्वस्वरूप के बोध के लिए प्रयत्न आवश्यक है। कुछ विधियों का वर्णन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, कृपया उन पर गहनता से विचार कीजिए–

(एक) परमात्मा के अनन्य चिंतन से :–

मनुष्य जब परमात्मा के बारे में चिंतन करने लगता है तो उसका मन परमात्मा के स्वरूप में लगता है। यह साधक की प्रकृति पर आधारित है कि वह किस प्रकार से परमात्मा का चिंतन करे ? निराकार, साकार का प्रश्न यहां पर नहीं है। मात्र परमात्मा के स्वरूप के चिंतन का प्रकरण है। जैसे हम संसार के स्वरूप का चिंतन करते हैं तो संसार तो साकार सा प्रतीत होता है और संसार के इस साकार स्वरूप के चिंतन में हम इतना डूब जाते हैं कि हमें सर्वत्र संसार ही प्रतीत होता है। यदि इस संसार का स्वरूप हम निराकार मान लें तो हमें संसार के स्वरूप के चिंतन में कठिनता आयेगी और हम संसार के निराकार स्वरूप की कल्पना में रहेंगे। वस्तुतः संसार का स्वरूप निराकार है क्योंकि वह विनाशशील है जो वस्तु कल विनिष्टि होने वाली है वह वस्तुतः नहीं है। ऐसा आभास करना इस संसार के निराकार स्वरूप का चिंतन करना है।

हमने इस संसार को साकार मान रखा है। इस कारण यह संसार हमारे मन और बुद्धि में बैठ गया है, रम गया है। हम संसार में इतना रम गए कि हमें रात दिन सर्वत्र संसार ही प्रतीत होता है। क्या ऐसी स्थिति हम परमात्मा के स्वरूप के चिंतन के सम्बंध में उपार्जित कर सकते हैं? यदि हम ऐसी स्थिति परमात्मा के स्वरूप के चिंतन के सम्बंध में उपार्जित कर लें तो यह परमात्मा का अनन्य चिंतन होगा। ऐसी स्थिति यदि हम प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् परमात्मा का अनन्य चिंतन करते हैं तो हमारी स्वस्वरूप में तत्काल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार परमात्मा के अनन्य चिंतन से ही हम अपने स्वस्वरूप का बोध कर सकते हैं।

(दो) परमात्मा के सतत् स्मरण से :–

जैसे हम किसी वस्तु को भूल गए हो परन्तु वह वस्तु हमारी स्मृति में संचित है तो किसी भी कारण से उसका स्मरण आते ही हमारे समक्ष उस वस्तु का स्वरूप उपस्थिति हो जाता है। स्वरूप आने का कारण है कि वह अतीत में अर्थात् भूतकाल में हमारे द्वारा देखी गयी थी। व्यवहार में लायी गई थी। जो वस्तु पूर्व के स्मरण में थी वह विस्मृत हो गई है इस कारण उसे पुनः स्मरण में लाना पड़ता है। इसी प्रकार परमात्मा से हमारा संयोग कभी हुआ था अवश्य हुआ था। इस कारण वह हमारी स्मृति में संचित है। उस संचित स्मृति को पुनः प्रकट करना है। जिस परमात्मा को हमने एक दीर्घकाल तक देखा था उस परमात्मा का स्मरण हमें पुनः करना है तथा उसकी स्मृति पुनः प्रकट करनी है। ऐसा करने से हमारी सांसारिक स्वरूप की स्मृति विस्मृत हो जाती है और हम पुनः स्वस्वरूप में स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार परमात्मा के सतत स्मरण से भी हमारी स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है।

(तीन) जपयज्ञ से :–

परमात्मा के नाम जप से हमें स्वस्वरूप का दर्शन होता है और इससे स्वस्वरूप में स्थित होने में बड़ा सहयोग प्राप्त होता है। जब साधक पुनः पुनः परमात्मा के नाम का जप करता है तो इस क्रिया को जपयज्ञ कहते हैं। जपयज्ञ समस्त प्रकार के यज्ञों से श्रेष्ठ है तथा श्री भगवान की विभूति है। विभूति का अर्थ है कि हम जपयज्ञ को परमात्मा का स्वरूप मान सकते हैं। परमात्मा के नाम जप से परमात्मा का स्मरण और चिंतन स्वतः आरम्भ हो जाता है। परमात्मा जो हमारे हृदय में स्थित है वहां पर विराजमान है। वह हमारी पुकार को सुनता है। वह यह जानता है कि कोई साधक हमें पुनः पुनः पुकार रहा है। परमात्मा को बार बार पुकारने को ही जपयज्ञ का स्वरूप समझना चाहिए। जब इसमें निरन्तरता आ जाती है तो वह परमात्मा हमारी ओर आकृष्ट होता है। जैसे हम किसी व्यक्ति को संसार में पुकारे तो वह व्यक्ति हमारे ओर आकर्षित होता है। उन्मुख हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा को बार बार पुकारने से वह परमात्मा भी हमारी ओर उन्मुख होता है। आकर्षित होता है तथा हमें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध सहजता से करा देता है। इस कारण परमात्मा के नाम जप से भी हमें अपने स्वस्वरूप का बोध हो जाता है।

(चार) ध्यान योग से :–

साधक अपने स्वरूप के आभास हेतु यदि योग साधना के विभिन्न उपायों को क्रियान्वित करके ध्यान में बैठता है तो भी उसे स्वस्वरूप का अभास हो जाता है। ध्यान की

साधना में चित्त की स्थिति जब एकदम शान्त हो जाती है तो हम अपने स्वरूप का दर्शन करते हैं। वह परमात्मा ज्योतिस्वरूप है और हमें ज्योति के रूप में ही अपने स्वरूप का बोध कराता है। ध्यानयोग के साधक को जब स्वस्वरूप का बोध होता है तो उसकी स्थिति विशिष्ट हो जाती है और यह ध्यान की अच्छी स्थिति कही जाती है, परन्तु यह सहजता से प्राप्त नहीं होती है। इस स्थल पर स्वस्वरूप के दर्शन और उसकी स्थिति को और अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। साधकों के लिए इसके व्यवहारिक स्वरूप को प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि साधक अपनी स्थिति को समझ कर उसका बोध कर सकें।

साधकों के लिए विशेष तथ्य :-

पूर्व में तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन हो चुका है। पहले प्रकार के मनुष्य सात्त्विक गुण प्रधान होते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्य राजसी गुण प्रधान होते हैं और तीसरे प्रकार के पुरूष तमोगुण प्रधान होते हैं। रज और तम गुणों की प्रधानता में ध्यान की साधना आरम्भ नहीं होती है। अर्थात् मनुष्य में जब तक रज और तम गुण की अधिकता रहती है तब तक उसे अपने को साधक नहीं मानना चाहिए। जब रज और तम गुण शान्त हो जाए और सत्त्वगुण बढ़े तो उसे साधना का अधिकार प्राप्त हो जाता है और मनुष्य स्वतः ही साधना की ओर उन्मुख होता है। जो मनुष्य रज और तम गुणों से प्रभावित है उनको यदि साधना के क्षेत्र में लाना है तो उनके लिए कुछ विशेष प्रयास करके उनके रज और तम गुणों को शान्त करना पड़ता है, क्योंकि रज और तम गुण ही साधना में विशेष बाधा उत्पन्न करते हैं । मनुष्य अपने गुणों के अनुसार ही चेष्टाऐं करता है अर्थात् उसकी समस्त क्रियाएं उसमें उपस्थित गुणों के आधार पर होती हैं। इसलिए यदि रज ओर तम से आच्छादित मनुष्य को साधना की ओर उन्मुख करना है तो उसके रज और तम गुणों को शान्त करके सत्त्वगुण के प्रभाव को प्रकट करना पड़ता है।

१- रज और तम गुण कैसे शान्त होते हैं :-

जो मनुष्य रज और तम से प्रभावित हो और उसे साधना के पथ पर ले जाने के लिए सत्त्वगुण को प्रकट करने की आवश्यकता हो तो हमें निम्न क्रियाएं करनी पड़ती हैं।

(क) सात्विक भोजन देना यथा संभव फलाहार करना अर्थात् रज और तम गुणों से आच्छादित मनुष्य को यदि कुछ दिनों तक फलाहार कराया जाए तो उसके रज और तम गुण धीरे-धीरे दबते हैं और सत्त्वगुण प्रकट होता है। यद्यपि रज और तम गुण से आवृत मनुष्य फलाहार के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट करेगा परन्तु उसे मात्र फलाहार पर ही रखा जाए तो उसके रज और तम गुण शान्त हो जाते हैं और सत्त्व गुण प्रकट हो जाता है।

(ख) रज और तम गुण से आच्छादित मनुष्य को दिनभर शास्त्रों का अध्ययन तथा अध्यात्मिक प्रवचनों और सत्संगों का सेवन कराया जाए । उसे जगत के व्यवहार से दूर रखा जाए तो उसके रज और तम गुण शान्त हो जाते हैं। सत्त्वगुण प्रकट होता है।

(ग) रज और तम गुणों से आवृत मनुष्य को परमात्मा के नाम का स्मरण कराया जाऐ तथा उस पर दृष्टि रखी जाऐ कि वह परमात्मा के नाम का स्मरण करता है अथवा नहीं । प्राथमिक स्थिति में तो उसे जोर जोर से परमात्मा के नाम का उच्चारण करवाना चाहिए, तत्पश्चात् वह मन से भी परमात्मा के नाम का जप करने लगेगा । ऐसा करने से रज और तम गुण शान्त हो जाता है और सत्त्वगुण प्रकट होता है।

(घ) रज और तम गुण से आवृत मनुष्य को सांसारिक क्रियाकलापों से पृथक् कर देना चाहिए । ऐसा करने से मनुष्य की सांसारिक उन्मुखता समाप्त हो जाती है, क्योंकि जब तक सांसारिक उन्मुखता और क्रियाकलाप समाप्त नहीं होते तब तक मनुष्य में रज और तम गुणों का ह्रास नहीं होता, इसलिए ऐसे मनुष्य को संसार से पृथक् किसी आश्रम आदि में रखना चाहिए।

२- सत्त्वगुण प्रकट होने के लक्षण :-

सत्त्वगुण जब मनुष्य में प्रकट होता है तब उसके शरीर में विशेष प्रकार की चैतन्यता, क्रियाशीलता आ जाती है । प्रमाद और आलस्य का ह्रास हो जाता है । जब तक प्रमाद और आलस्य रहता है तब तक मनुष्य को रज और तम से आच्छादित मानना चाहिए। जब सत्त्वगुण प्रकट होता है तो मनुष्य प्रातः ब्रह्ममुहुर्त में जागने की इच्छा करता है और साधना की ओर उन्मुख होता है। ध्यान आदि में उसकी रूचि बढ़ती है। यदि ऐसे लक्षण मनुष्य में प्रकट हो तो यह मानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। सत्त्वगुण की वृद्धि में मनुष्य के बाह्य क्रियाकलाप स्वतः ही परिवर्तित हो जाते हैं । उसमें विनयशीलता, मृदुभाषिता, शान्ति, संसार की ओर से घृणा, सभी के प्रति उचित व्यवहार अपने से श्रेष्ठजनों का आदर आदि आदि भाव प्रकट होते हैं। ऐसा होने पर यह समझना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।

३- सत्त्वगुण की वृद्धि में साधना का शुभारम्भ :-

साधक में जब सत्त्वगुण बढ़ जाए तो उसे ध्यान की ओर उन्मुख होना चाहिए। ध्यान पर बैठना चाहिए तथा संसारी क्रियाकलापों और विषयों के चिंतन से अपने को पृथक् करने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा करने पर जब मन संसारिक क्रियाकलापों के चिंतन से अलग हटकर परमात्मा के विषय में विचार करता है तो उसकी ध्यान साधना आरम्भ होती है। ध्यान साधना आरम्भ होने के लिए प्राथमिक

स्थिति में तो ध्यान नहीं बनता है और मनुष्य का मन बार बार संसार की ओर भागता है क्योंकि वह अब तक संसार में ही रहा है, इसलिए साधक को पुनः पुनः संसार से मन हटाकर परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। यह क्रिया लम्बे अंतराल तक साधक को प्राथमिक स्थिति में करनी पड़ती है। जैसे एक बालक को पहले किसी भाषा के ज्ञान के लिए वर्णमाला का अध्ययन कराया जाता है तत्पश्चात् क्रम से शब्द और वाक्यों का बोध कराने का प्रयास होता है। इसी प्रकार प्राथमिक स्तर के साधक को पहले संसार से मन हटाकर परमात्मा की ओर मन लगाने का प्रयास करना पड़ता है। प्राथमिक स्तर से और साधन की पराकाष्ठा तक ६ स्थितियां है, जिन्हें साधकों के लिए यहां पर वर्णित किया जा रहा है। इन स्थितियों को जानकर अपनी साधना की स्थिति को आप स्वयं परख सकते हैं और यह जान सकते हैं कि हम किस स्थिति के साधक है । यह ६ स्थितियां क्रमिक रूप से हैं ।

१- ध्यान की प्राथमिक स्थिति, २- ध्यान की मध्यम स्थिति ३- स्वरूप का दर्शन ४-स्वस्वरूप में स्थिति ५- परमात्मा की निकटता का आभास तथा ६- परमात्मा का नित्य आभास।

(एक) ध्यान की प्राथमिक स्थिति :-

सत्त्वगुण के बढ़ जाने पर जब साधक ध्यान की ओर उन्मुख होता है अर्थात् ध्यान में बैठता है तब चूंकि वह लम्बे समय तक संसार में रहा है और उसने संसार के सम्बंध में विचार किया है, इसलिए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने पर उसका ध्यान पुनः पुनः संसार की ओर जाता है। लक्ष्य पर कम टिकता है। यह स्थिति काफी समय तक रहती है। लक्ष्य पर ध्यान टिकाने का पुनः प्रयास करना और पुनः पुनः मन का संसार की ओर भाग जाना यह साधना की प्राथमिक स्थिति है। जब लक्ष्य पर ध्यान का समय बढ़ने लगे तो समझना चाहिए कि हमारा ध्यान विकसित हो रहा है। जैसे एक पौधा धीरे-धीरे बढ़ता है। उसमें शाखा प्रशाखाएं समय के साथ निकलती जाती हैं। एक समय में पौधा पूरी तरह से विकसित हो जाता है। वैसे ही प्राथमिक स्थिति में एक साधक को ध्यान में अत्यंत कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है क्योकि उसका ध्यान एक लम्बे समय तक संसार से सम्बंधित रहा है। इसलिए ध्यान साधना की प्राथमिक स्थिति में साधक कुछ समय तक लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित कर पाता है।

(दो) ध्यान की मध्यम स्थिति :-

ध्यान का प्राथमिक साधक जब निरन्तर ध्यान का सेवन करता है अर्थात् एक लम्बे समय तक वह ध्यान में बैठता है अत्यंत प्रयास करने पर जब लक्ष्य पर ध्यान टिकता है तो उसे सुखद अनुभूति होती है। मध्यम स्थिति में साधक की ध्यान के प्रति रूचि बढ़ती है। जैसे हमारी और आपकी रूचि संसार के विषयों में होती हैं और संसार के विषय हम सभी को सामान्य रूप से सुखद प्रतीत होते हैं। वैसे ही

ध्यान के साधक को ध्यान में रूचि बढ़ती है और ध्यान का विषय उसे सुखद प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में वह संसार के बारे में कम बातचीत करना चाहता है। कोई अनावश्यक सांसारिक विषयों में उसे ले जाने का प्रयास करता है तो वह सांसारिक विषयों को नकारता है और उनके प्रति उसके मन में उदासीनता का भाव रहता है। इस प्रकार जब संसार से रूचि समाप्त होने लगे और ध्यान साधना की ओर रूचि बढ़े तब यह स्थिति साधक की मध्यम स्थिति कही जाती है। मध्यम स्थिति तक पहुंचा हुआ साधक अपने ध्यान में विशिष्ट तत्त्वों की अनुभूति कर लेता है। जैसे प्रकाश का दिखाई पड़ना, सूर्य का दिखाई पड़ना, तारों का दिखाई पड़ना, प्रकाश का कई प्रकार से परिवर्तित हो जाना, विभिन्न रूपों में प्रकट होना, जुगनू जैसा प्रकाश दिखाई पड़ना, धुंआ सा प्रतीत होना, अथवा अन्य प्रकार की अनुभूति भी उसे हो सकती है। इसे योग साधना में सफलता का पर्याय मानना चाहिए। जब साधक को संसार से पृथक् कुछ अनुभूति हो तो उसे अपनी योग साधना को विकास की ओर जाना समझना चाहिए। मध्यम स्थिति का साधक शान्त होने लगता है और वह अपने श्रेष्ठ पुरूषों के प्रति सम्मान का भाव रखता है। इस स्थिति में अन्य भी गुण विकसित होने लगते हैं। जैसे क्षमा, दया, विनयशीलता, मृदुभाषिता, अहिंसा, आदि आदि गुण स्वतः प्रकट होते हैं।

(तीन) स्वरूप का दर्शन :-

मध्य स्थिति के उपरान्त साधक यदि योग का निरन्तर सेवन करता है अर्थात् ध्यान की ओर लगातार बढ़ता जाता है तो उसे अपने स्वरूप का दर्शन भी होता है। इस स्थल पर एक तथ्य और स्पष्ट करना है कि हमारे मन और बुद्धि से संसार के विषयों का विचारण और उसका विनिश्चय समाप्त होकर परमात्मा के विषयों का विचारण और विनिश्चय आने लगे तथा परमात्मा के विषयों का विचारण और विनिश्चय के विस्मरण से व्याकुलता का आभास हो तो समझना चाहिए कि साधक स्वस्वरूप के दर्शन की स्थिति को प्राप्त कर चुका है। स्वरूप दर्शन की स्थिति भी साधना की उच्च कोटि की स्थिति मानी जाती है।

जैसे हम अपना मुख किसी दर्पण में देखते हैं तो दर्पण में मुंह देखने के लिए हमें प्रकाश की आवश्यकता होती है। यदि पर्याप्त प्रकाश नहीं है दर्पण और मुख है तो भी हम अपने मुख को दर्पण में नहीं देख सकते हैं। यहां पर तीन तथ्य हैं एक अपना मुख दूसरा दर्पण और तीसरा प्रकाश। इस प्रकार स्थूल स्वरूप के दर्शन के लिए उक्त तीन तथ्य अनिवार्य होते हैं। अर्थात् मुख स्वच्छ हो, दर्पण स्वच्छ हो और प्रकाश भी स्वच्छ हो तब हमें अपने स्थूल शरीर का बोध होता है। संज्ञान होता है। हमारा स्थूल शरीर दर्पण में प्रतीत होता है। यदि मुख पर किसी प्रकार का रंग लगा दिया जाए अथवा दर्पण को धूल आदि से ढक दिया जाए अथवा पर्याप्त प्रकाश न हो तो भी हम अपने स्थूल शरीर का दर्शन नहीं कर

सकेंगे। मुख दर्पण और प्रकाश यह तीनों अनिवार्य तत्त्व हैं, जिनसे हम अपने स्थूल स्वरूप को देखते हैं। इनमें से एक के भी न रहने पर हमें स्थूल स्वरूप का दर्शन नहीं होता है।

स्वस्वरूप के दर्शन के बोध के लिए उक्त तथ्य को वर्णित किया गया है। जब साधक को अपने स्वरूप का दर्शन होता है तब उक्त तीनों तत्त्वों की आवश्यकता नहीं होती है। अर्थात् न तो मुख की आवश्यकता होती है और न दर्पण की आवश्यकता होती है और न ही प्रकाश की आवश्यकता होती है। स्वच्छ प्रकाश प्रकट होता है। उसमें दर्पण का भी आभास होता है तथा स्वच्छ प्रकाश ओर स्वच्छ दर्पण में हमारा स्वस्वरूप दीखता है। यह स्थिति प्रयोगात्मक है जो उत्कृष्ट साधना से हमें उपलब्ध होती है। स्वस्वरूप का दर्शन यदि साधक को हो जाऐ तो उसे समझना चाहिए कि हमारी साधना बलवती हो गई है और हम अपने गंतव्य की ओर बढ़ते जा रहे हैं। जब तक स्वस्वरूप का दर्शन न हो तो साधक को अपनी साधना को निकृष्ट कोटि की मानना चाहिए और यह समझना चाहिए कि हम संसार में अधिक रह रहे हैं तथा परमात्मा की ओर हमारी उन्मुखता कम है। इस कारण स्वस्वरूप के दर्शन के लिए हमें अपनी उन्मुखता बढ़ानी चाहिए। कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हमारी बुद्धि और हमारा मन संसार के विषयों का विचारण त्याग कर परमात्मा के विषयों का विचारण आरम्भ रखे। इसमें नित्यता आने पर हमें स्वस्वरूप का बोध होता है अर्थात् अपना स्वरूप दिखाई पड़ता है। यह स्थिति जागृत और सुषुप्ति के मध्य की स्थिति है। स्वस्वरूप का दर्शन हो जाने पर साधक में विशेष प्रकार की स्फूर्ति जागृत हो जाती है और वह नित्य प्रति प्रसन्न रहता है।

(चार) स्वस्वरूप में स्थिति :-

स्वस्वरूप का बोध हो जाने के उपरान्त साधक जब ध्यान मुद्रा में बैठता है तब उसे स्वस्वरूप का बोध रहता है। अर्थात् उसका स्वरूप प्रतीत होता है दिखाई पड़ता है और जब साधक ध्यान से पृथक् हो करके संसारिक क्रियाकलापों में लग जाता है तो उसका स्वस्वरूप विस्मृत हो जाता है। स्वस्वरूप के दर्शन के पश्चात् वह दर्शन यदि नित्य हो जाऐ अर्थात् उसमें नित्यता आ जाऐ तो यह स्वस्वरूप में स्थिति कही जाएगी। जैसे हमारे समक्ष कोई मनमोहक और रमणीय दृश्य प्रस्तुत किया जाऐ उस दृश्य को देखकर मन में सुखद अनुभूति होती है और प्रसन्नता का आभास भी होता है। किसी कारण से वह मनमोहक और रमणीय दृश्य हमारे सामने हट जाता है तो हमें शोक का आभास होता है। इसलिए स्वस्वरूप के दर्शन की स्थिति निरन्तर बनी रहे तो साधक को यह समझना चाहिए कि हमारी साधना सिद्धि की ओर उन्मुख है। अधिकांशतः जो योगी होते हैं वे अपनी स्वस्वरूप की स्थिति को बनाये रखते हैं और उसका निरन्तर आभास करते हैं। जैसे वायु चल रही हो तो हमें उसके चलने का अर्थात् उसकी गति का आभास होता है। यदि वायु चलना समाप्त कर दे तो भी हमें उसकी स्थिति का उसकी गति का आभास समाप्त हो

जाता है। इसी प्रकार स्वस्वरूप के दर्शन वाले साधक को जब स्थिति का वियोग होता है, तब उसे उसका आभास होता है। इसलिए स्वस्वरूप की स्थिति होने पर साधक अत्यंत उत्कृष्ट स्थिति में पहुंच जाता है तथा वह माया और त्रिगुणों के प्रभाव को स्पष्ट रूप से जानता है और उसका आभास भी करता है।

(पांच) परमात्मा की निकटता का आभास :-

स्वरूप में निरन्तर स्थिति होने पर साधक को परमात्मा की निकटता का आभास होता है। जिस प्रकार हम किसी पहाड़ को दूर से देख रहे हों और धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़े तो पास आने पर उस पहाड़ की निकटता का उसकी विशालता का हमें बोध होता है और हम यह जान जाते हैं कि पहाड़ हमारे निकट है। वैसे ही हम किसी नदी से दूर होते हैं और धीरे-धीरे उसके पास जाते हैं तो उसके प्रवाह का और उससे छूकर आने वाली शीतल वायु का बोध हमें होता है। इसी प्रकार जब साधक की स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है तब उसे परमात्मा की सत्ता का उसकी निकटता का आभास होता है। परमात्मा अपने स्वरूप को साधक के समक्ष प्रकट करने की इच्छा रखता है और साधक भी परमात्मा की समीपता का अनुभव करता है। यह सिद्धान्त है कि जीव और परमात्मा के मध्य माया ही आवरण है अर्थात् माया ने ही परमात्मा को अपनी सत्ता से ढक रखा है। आवृत कर लिया है। स्वस्वरूप में निरन्तर स्थिति होने पर माया का पर्दा धीरे-धीरे हटने लगता है और ऐसा लगता है कि वह परमात्मा हमारे निकट है। जैसे नाटक में रंग मंच पर यदि महीन आवरण अर्थात् पर्दा लगाया जाए तो उसके पीछे के पात्र हमें धुंधले से प्रतीत होते हैं। उस पर्दे के पीछे यदि कोई कुछ चेष्टा करता है, गति करता है तो वह मनुष्य हमें गति और चेष्टा करता हुआ आभास होता है। इसलिए स्वस्वरूप की स्थिति वाले साधक को परमात्मा की निकटता का आभास होने लगता है और ऐसा साधक यह जानता है कि हमारा लक्ष्य बहुत दूर नहीं है। जैसे किसी पहाड़ की ऊंची चोटी पर कोई चढ़ने का प्रयास करता है तो सर्वाधिक ऊंची चोटी के समीप पहुंचने पर यह आभास होता है कि हमारा लक्ष्य बहुत दूर नहीं है हम कुछ ही समय में इस पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर पहुंच जायेंगे। यही स्थिति स्वस्वरूप में निरन्तर स्थिति वाले साधक की होती है उसे परमात्मा की निकटता का आभास होने लगता है। साधक की यह स्थिति अत्यंत उच्चकोटि की है। जिस तक हजारों मनुष्य में से एकाध साधक ही प्राप्त कर पाते हैं।

(छः) परमात्मा का नित्य आभास :-

यह साधना की पराकाष्ठा और सिद्धि की स्थिति है। इस स्थिति पर पहुंच जाने वाले साधक को सिद्ध कहा जाता है और उसकी स्थिति तत्त्वदर्शी पुरूष की हो जाती है। शास्त्रों में इस स्थिति को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। जहां पर साधना की अंतिम स्थिति हो और हमारा लक्ष्य हमें प्राप्त हो

जाए तो उसे सिद्धि ही माना जाएगा। परमात्मा का नित्य आभास जिन महापुरूषों को हो जाता है वे शरीर रहते हुए मुक्त हो जाते हैं तथा शरीर के समापन के पश्चात् परमात्मा में ही एकाकार हो जाते हैं। जो मनुष्य इस संसार में संसार के क्रियाकलापों में रहकर सांसारिकता से दूर हो जाऐ तथा उसे संसार की किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति का मोह न रहे तो वह परमात्मा का नित्य दर्शन करता है। परमात्मा के नित्य दर्शन से साधक सिद्ध हो जाता है।

परमात्मा का नित्य आभास करने वाला सिद्ध पुरूष त्रिगुणों से अतीत हो जाता है। अर्थात् गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और जगत की समस्त चेष्टाएं गुणों के कारण हो रही हैं ऐसा वह जानता है और गुणों के प्रभाव और चेष्टा से विगत होकर उनकी क्रियाओं का दर्शन करता है। इस स्थिति पर जो महापुरूष पहुंच जाते हैं वे दुर्लभ हैं। वे स्वयं में परमात्मा की प्रतिमूर्ति होते हैं। यही ब्राह्मी स्थिति है और परमात्मा का नित्य साक्षात्कार करने जैसी दुर्लभ स्थिति है।

(ज) स्पृहारहित होना योग की सिद्धि है :–

मनुष्य को बाल्यावस्था से ही सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। एक बालक को एक खिलौना उपलब्ध कराये तो वह उससे खेलता रहता है। खेलते खेलते उसे तोड़ता फोड़ता है और टूटने पर तथा नहीं भी टूटने पर वह दूसरे खिलौने की इच्छा करता है। दूसरा प्राप्त हो जाए तो वह तीसरा चाहता है। यह उसकी अपनी आवश्यकता नहीं है परन्तु फिर भी उसे आवश्यकता का आभास होता है। यह खिलौने की आवश्यकता का आभास न करता तो अन्य खिलौनों की इच्छा उसको नहीं होती और न ही वह अन्य खिलौनों की मांग करता। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य की आवश्यकता का अनुभव उसे बाल्यावस्था से ही होता है। किशोरावस्था के आते आते उसकी आवश्यकता बढ़ती है। बाल्यावस्था से किशोरावस्था में आयु बढ़ती है और साथ ही आवश्यकता का आभास भी बढ़ता है। एक किशोर अपनी आवश्यकताओं पर विचार करता है कि हमें अमुक वस्तु चाहिए और अमुक वस्तु नहीं चाहिए। उसमें अपनी आयु के अनुसार आवश्यकताओं की प्रतीति होती हैं। किशोरावस्था से जब वह युवावस्था में जाता है तो वह संसार के प्रति और भी संवेदनशील हो जाता है। एक किशोर से युवा की आवश्यकताऐं बहुत अधिक रहती है। युवा अपने चारों ओर वातावरण को देखता है और उसमें अपनी सामंजस्यता का आभास करता है और उसी के अनुसार उसे आवश्यकता का आभास होता है। वर्तमान में आपने यह आभास किया होगा कि अधिकांश युवाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं होती है। यदि उनकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति प्रयास से कर दी जाए तो पुनः उनमें आवश्यकताऐं उत्पन्न हो जाती हैं तथा वे कभी न पूरित होने वाली कामनाओं को करते हैं।

आज के युग में मनुष्य विशेषतया आवश्यकताओं के संजाल में फंसा हुआ है उसकी दिन प्रतिदिन की आवश्यकताऐं बढ़ती जा रही है। जीवन का परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहा है। बहुत तेजी से परिवर्तित हो रहे जीवन में मनुष्य अपनी तुलना अपने स्तर के लोगों से तो करता ही है साथ ही वह अपने से बहुत उच्च वर्ग के लोगों से भी अपनी तुलना करता है। एक उच्च वर्ग के युवक की जो आवश्यकताऐं हैं वे मध्यम वर्ग के युवक में भी रहती हैं। निम्न वर्ग के युवा भी मध्यम वर्ग के युवा की तरह जीवन जीना चाहते हैं। इस कारण आवश्यकताऐं बढ़ती हैं। जो वस्तुऐं हैं उनमें मनुष्य की संतुष्टि न हो और वह जीवन जीने के लिए अन्य आवश्यकताओं की खोज करता रहे तथा उनकी प्राप्ति का प्रयास करें तो इसे स्पृहा कहा जाता है। युवावस्था में कुछ विशेष वस्तुओं की आवश्यकता हो जाती है, इसलिए स्पृहा बढ़ती है और यह नित्य निरन्तर बढ़ती जी हाती है।

(झ) स्पृहारहित होना आवश्यक क्यों है ?

मनुष्य चाहें जितनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को एकत्र कर लें परन्तु उसकी आवश्यकताओं की पूर्ण तृप्ति कभी नहीं हो सकती। एक न एक वस्तु की कमी प्रतीत होगी। यही कारण है कि आज के आधुनिक युग में एक मनुष्य के पास सैकड़ों प्रकार के वस्त्र हो जाते हैं परन्तु फिर भी वह वस्तुओं की कमी का आभास करता है और नित्य नवीन वस्तुओं की ओर आकर्षित रहता है। कुछ समय पश्चात् जो वस्तु उसके पास है वे उसे पुराने प्रतीत होते हैं और समय के अनुसार उनकी आवश्यकता का समापन हो जाता है। समय के साथ बहुत तेजी से परिवर्तित हो रहे इस समाज में आवश्यकताओं का आभास बहुत प्रबलता से हो रहा है। यह तथ्य वस्त्रों तक ही सीमित नहीं है। प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं की प्रत्येक क्षेत्र में वस्तुओं की आवश्यकता आज के मनुष्य में रहती है। चूंकि इच्छाऐं तथा आवश्यकताऐं अनन्त हैं इस कारण मनुष्य अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरन्तर लगा रहता है। वह जीवनपर्यन्त इसी प्रकार का उपक्रम करता रहता है। स्पृहायुक्त मनुष्य का जीवन बड़ा ही अव्यस्थित हो जाता है। जब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है तब वह असमाजिक और अनैतिक मार्ग को अपनाता है तथा उस पर चलकर अनेक प्रकार अवैधानिक कृत्य भी करता है। इसके प्रतिकूल जो मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लेता है वह धीरे–धीरे आवश्यकताओं की रिक्तता की ओर बढ़ता है। जीवन में आवश्यकताएं कम से कम रहे यही श्रेष्ठ जीवन का मंत्र है, क्योंकि मनुष्य थोड़े भोजन से, थोड़े वस्त्रों से और छोटे से आवास में प्रसन्न रह सकता है। इस कारण मनुष्य जब समस्त प्रकार की आवश्यकताओं से रहित हो जाता है तो वह स्पृहा रहित हो जाता है। संसार की आवश्यकताऐं ही मनुष्य के बंधन का मुख्य कारण हैं। संसार

की आवश्यकताओं की निरन्तर मांग करना भोग कहा जाता है और आवश्यकता रहित हो जाना ही योग है। आवश्यकता रहित हो जाने पर मनुष्य स्वयं ही संसार से विमुख हो जाता है तथा उसकी उन्मुखता परमात्मा की ओर हो जाती है। इस कारण स्पृहारहित होना आवश्यक है।

(ञ) स्पृहारहित, अपने स्वरूप में स्थित और नियंत्रित चित्त वाला ही योगी हैः–

जो साधक संसार की आवश्यकताओं का परित्याग कर देता है तथा जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को भी अनावश्यक समझ कर जीवन यापन करता है वह धीरे–धीरे परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। परमात्मा की उन्मुखता का प्राथमिक मंत्र यह है कि परमात्मा के नाम का जप करें उसके पश्चात् परमात्मा के स्वरूप का स्मरण और चिंतन स्वतः ही होता है। परमात्मा के चिंतन और स्मरण से ही मनुष्य की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है तथा स्वरूप में स्थिति होने पर उसका चित्त स्वतः ही नियंत्रित हो जाता है। यह योगी की स्थिति है। इसके प्रतिकूल जब तक मनुष्य जीवन में आवश्यकताऐं रहती है। तो वह स्वतः बढ़ती जाती हैं। आवश्यकताओं के बढने पर चित्त की चंचलता तथा उसमें क्रियाशीलता भी बढ़ जाती है। ऐसे मनुष्य का चित्त चलायमान रहता है और वह निरन्तर भ्रमण किया करता है। चित्त के भ्रमण के लिए यह संसार ही पर्याप्त है। संसार में रहकर चित्त का निरन्तर चलायमान स्थिति में रहना ही भोग कहा जाता हैं ऐसा मनुष्य भले ही अपने को योगी कहे परन्तु वह कदापि योगी नहीं हो सकता है। इस कारण योगी बनने के लिए साधक को अपनी समस्त आवश्यकताओं का परित्याग करके चित्त को परमात्मा में स्थापित करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाना चाहिए ऐसा करने वाला ही योगी है।

7– दुःखों के संयोग के वियोग को योग कहते हैं :–

प्रत्येक मनुष्य का दुःखों से संयोग अवश्यक होता है। हम किसी भी अवस्था के व्यक्ति हों किसी भी स्थिति के हों हमारा दुःखों से संयोग अवश्य रहा होगा। ऐसा नहीं हुआ होगा कि किसी का दुःखों से संयोग न हुआ हो। हम जीवन में यह तथ्य कहते और सुनते होंगे कि आज हम बहुत दुखी हैं। यह कथन यह स्पष्ट करता है वह दुःख के कारण का उल्लेख तो नहीं कर रहा है परन्तु वह दुःखी है। मनुष्य दुःखी क्यों है इस पर बहुत गहनता से हमें विचार करना चाहिए। यह दुःखों का संयोग प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य प्राप्त होता है और हमें भी होता रहता है। उससे कोई अछूता नहीं है। हम प्रतिदिन कई बार दुःखों की प्रतीति करते हैं। इस दुःख के कारण को और दुःख के स्वरूप को हमें समझना चाहिए। हमारे भारतीय दार्शनिक ग्रंथों का यही विषय है कि दुःख क्या है ? दुःख का

स्वरूप क्या है ? दुःख का कारण क्या है ? और दुःखों से निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसी तथ्य को दृष्टिगत् रखकर निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(एक) दुःख क्या है ?

साधारणतया किसी प्रकार की प्रतिकूल स्थिति जब आती है तब हमें दुःख का आभास होता है और हम उद्विग्न हो जाते हैं। हम एक प्रकार के प्रतिकूल भाव का आभास करते हैं और जो करते हैं उसे ही दुख कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी कारण से प्रतिकूलता का आभास करता है। चाहें मनुष्य किसी भी स्थिति का हो वह अपने स्तर से अपनी प्रतिकूलताओं की स्थिति को संज्ञान में रखता है। जैसे एक धनवान व्यक्ति दूसरे प्रकार की प्रतिकूलताओं में दुःख का आभास करता है। एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति की प्रतिकूलताऐं पृथक् प्रकार की हैं और एक निम्नस्तर व्यक्ति उसकी प्रतिकूलताऐं सबसे अलग प्रकार की हैं। हम संसार में किसी व्यक्ति से बातचीत करेंगे तो हमें यह ज्ञात होगा कि संसार में अधिकांश व्यक्ति दुःखी ही हैं। दुःख कितने प्रकार के होते हैं उनका स्वरूप क्या है ? और इनसे निवृत्ति कैसे संभव है ? इस तथ्य का प्रस्तुतीकरण यहां किया जा रहा है ?

(क) आध्यात्मिक दुःख :–

मनुष्य के प्रथम प्रकार के दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है। मनुष्य इस जगत में जीवन यापन करता है। इस कारण नाना प्रकार की समस्याऐं उसके समक्ष रहती हैं। आज के युग में संभवता ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसके समक्ष अनेक प्रकार की पारिवारिक, सामाजिक, प्रतिकूलताऐं न हो और उसे विशेषकर इन समस्याओं का सामना न करना पड़ता हो। अनेक मनुष्य आज भी विविध प्रकार आर्थिक, सामाजिक समस्याओं में जीवन यापन कर रहे हैं। उनकी जो समस्याएं रहती हैं उनका चिंतन मन बुद्धि से होता रहता है। हम चाहें जिस प्रकार का चिंतन करें वह आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक राजनीतिक हो, वह सबकी सब मन बुद्धि में अनायास ही आती रहती हैं। आपने अनुभव किया होगा कि जब कोई समस्या आती है तो उसका चिंतन स्वतः ही होता है। उसके चिंतन का प्रयास नहीं करना पड़ता है। परमात्मा के चिंतन का प्रयास करना पड़ता है। मनुष्य प्रयास करके भी परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं हो पाता है। यह हमारी मन बुद्धि की क्रिया पद्धति है, जो चलती रहती है। इस प्रकार जो भी चिंताऐं, मानसिक उत्पीड़न आदि की तथा मन बुद्धि के चिंतन से सम्बंधित होती हैं वह आध्यात्मिक दुःख के रूप में कही जाती हैं।

(ख) अधिभौतिक दुःख :–

मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। वर्तमान में अनगिनत बीमारियां हैं, जिनके निवारण का प्रयास चल रहा है। शरीर में जो भी दुःख होता है, कष्ट होता है, बीमारी होती है वह सबका सब अधिभौतिक दुःख कहा जाता है। शारीरिक बीमारी के अतिरिक्त कीड़े, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि से भी शरीर को कष्ट होता है, उसे भी अधिभौतिक दुःख में सम्मिलित किया जाता है। अधिभौतिक दुःख स्थूल शरीर से अनुभव किया जाता है। चूंकि इन्द्रियां भी स्थूल शरीर का अंश हैं, इस कारण समग्र शरीर में जिस किसी कारण से दुःख का आभास रहता है वह सबका सब अधिभौतिक प्रकार का दुःख है।

(ग) अधि दैविक दुःख :–

अधिदैविक दुःख तीन प्रकार के देवताओं के द्वारा विशेष रूप से उत्पन्न किये जाते हैं। इन देवताओं को अग्नि, वायु, जल, कह सकते हैं। अग्नि, जल, वायु, पंच महाभूत के अंग हैं तथा देवता भी हैं। जैसे हम देखते हैं किसी स्थान पर आग लग जाने पर उस स्थान का विनाश हो जाता है। उसके सम्पर्क में जो भी वस्तुऐं आती हैं वह सबकी सब विनिष्ट हो जाती हैं। वैसे ही जल से अतिवृष्टि होती है अतिवृष्टि होने पर बाढ़ का विकराल रूप पृथ्वी पर उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार ओलावृष्टि भी जल का ही एक कार्यरूप है। पृथ्वी, कांपने से भूकम्प आदि आता है और वायु की तीव्रता से आंधी तूफान भी अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न कर देता है। पृथ्वी पर यह समस्त प्रकार के जो दैवीय आपदाऐं हैं, वे सभी अधिदैविक दुःख के रूप में मनुष्य के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं और मनुष्य इन उपद्रवों से दुःखी होता है।

(दो) दुःख के संयोग के वियोग की दो स्थितियां :–

दुःख के संयोग के वियोग की दो स्थितियां हैं। एक तो दुःख का संयोग होने पर दुःख का आभास न करना तथा दूसरे अपने संचित कर्मफलों को सम्पूर्णता से विनाश कर देना। एक स्थिति में संयोग होने पर साधक को दुःख का आभास नहीं होता है और दूसरी स्थिति में साधक संयोग का विनाश होने से दुःख का आभास नहीं करता है। इन दोनों स्थितियों को हमें पृथक्–पृथक् रूप से समझना चाहिए।

(क) दुःखों का आभास न करना :–

जब साधक की उत्कृष्ट साधना के पश्चात् विशिष्ट स्थिति आ जाती है और वह दुःखों को आने जाने वाली स्थिति समझता है तो दुःखों की प्राप्ति में उदिग्न नहीं होता है। जैसे सर्दी, गर्मी, आने जाने वाली स्थितियां हैं, वे स्थितियां तो क्रम से आयेंगी और हमारे शरीर को प्रभावित भी करेंगी। सर्दी गर्मी का क्रम से आना जाना, उससे हमें प्रभावित न होना यह स्थिति साधना के पश्चात् ही आती है। वैसे ही सुख और दुःख क्रम से आयेगा। इस क्रम से आने वाले सुख दुःख से यदि मनुष्य प्रभावित न हो तो उसे ही उत्कृष्ट साधक कहा जाता है। एक सामान्य मनुष्य सुख में प्रसन्न हो जाता है और दुःखों में दुःखी हो जाता है, परन्तु जो योगी है वह दुःखों के आने पर उद्विग्न नहीं होता और सुखों के आने पर प्रसन्न नहीं होता। इस प्रकार उसका व्यवहार एक समान रहता है।

दुःख रहने पर भी उसका आभास न होने की जो स्थिति है, यह स्थिति इस प्रकार की है जैसे हमारे शरीर के किसी अंग में तेज दर्द होता हो और जब वह दर्द असहनीय हो जाता है तो हम दर्दनाशक औषधि लेते हैं। इससे औषधि के प्रभाव से हम दर्द का आभास नहीं होता है। दर्द तो रहता है पर उसका आभास दर्दनाशक औषधि के प्रभाव से नहीं होता है। वैसे ही योगी की स्थिति होती है। दुःखों का संयोग तो होता है पर योगी अपनी साधना से, योग की अनुभूति से उस दुःख का आभास नहीं करता है। वह दुःखों का संयोग होने पर वियोग की स्थिति में रहता है। दुःखों का संयोग तो होता है पर उसके प्रति उपेक्षा भाव से हम दुःखों का अनुभव नहीं करते हैं। मनुष्य की यह स्थिति जब दृढ़ हो जाती है तो वह योगी हो जाता है। इस स्थिति में एक तथ्य प्रमुख है कि ऐसा साधक परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है, इस कारण उसे दुःखों का आभास नहीं होता है। जब साधक दुःखों का आभास नहीं करता है तो वह योगी हो जाता है तथा उसकी दो स्थितियां दृढ़ हो जाती हैं जो निम्न प्रकार हैं।

(अ) अहंकार से पूर्ण निवृत्ति :–

दुःख अहंकार का धर्म है। अर्थात् अहंकार के कारण ही मनुष्य को दुःख की प्रतीति होती है। अहंकार अंतःकरण का एक अंग है जो प्रत्येक मनुष्य में रहता है। अहंकार, मन तथा बुद्धि से भी सूक्ष्म है। जैसे हम मन की विचार शक्ति को और बुद्धि की विनिश्चय शक्ति को शीघ्रता से जान नहीं पाते है, वैसे ही अहंकार के प्रभाव से भी हम शीघ्र परिचित नहीं हो सकते हैं। यह एक अत्यंत आश्चर्यजनक तथ्य है कि प्रत्येक मनुष्य अहंकार से आवृत है। परन्तु उसका आभास नहीं करता है। अहंकार के विषय में विशिष्ट जानकारी के

लिए **मुक्ति का सहज उपाय** नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। सात्त्विक और शुद्ध बुद्धि अहंकार के प्रभाव को जान लेती है और वह अहंकार को नियंत्रित करने का प्रयास करती है। मनुष्य में जब तक अहंकार रहता है तब तक उसे दुःखों का आभास भी रहता है। अहंकार रूपी दोष से निवृत होने के पश्चात् दुःखों की प्रतीति उसका अनुभव, आभास आदि समाप्त हो जाता है। इसलिए साधक को यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए यदि उसे दुःख की प्रतीति है तो उसका अहंकार अभी निवृत नहीं हुआ है। अहंकार से पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर दुःखों के संयोग से वियोग की स्थिति स्वतः ही आ जाती है।

(ब) स्वस्वरूप में स्थिति होने पर :–

जब साधक स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है तब भी वह दुःखों के संयोग का वियोगी हो जाता है। स्वस्वरूप में स्थिति होने पर साधक यह जान जाता है कि यह जो दुःख का आभास हो रहा है वह दुःख वस्तुतः है नहीं। कहीं से आया हुआ है। इस कारण इसका संयोग हो रहा है। जैसे वायु के तेज चलने पर हम उसकी तीव्रता का, उसके आवेग का आभास होता है परन्तु हम यह नहीं जानते हैं कि तीव्र वायु कहां से आयी हुई है। जो तीव्र वायु आयी हुई है उसका नियमित और नित्य अस्तित्त्व नहीं है। इस कारण तेज वायु के प्रभाव से कुछ समय के लिए अपने को बचाने का प्रयास करते हैं। वैसे ही दुःख का वास्तविक अस्तित्त्व नहीं है। वह कहीं से आया हुआ है। वस्तुतः उसका कोई पृथक् अस्तित्त्व भी नहीं है। तेज वायु के संयोग की तरह से दुःखों का भी संयोग होता है, परन्तु वह नितान्त क्षणिक है तथा शीघ्रता से समाप्त होने वाला है। यह तथ्य स्वस्वरूप में स्थित साधक जान लेता है। इसी कारण वह दुःखों के संयोग का वियोगी हो जाता है। इस प्रकार जो साधक दुःखों के संयोग के वियोगी हो जाते हैं वे स्वस्वरूप में स्थित होते हैं। स्वस्वरूप में स्थित होने की चर्चा इससे पूर्व हो चुकी है। ?

(ख) संचित कर्मो का सम्पूर्णता से विनाश हो जाना :–

ज्ञान रूपी अग्नि में जन्म जन्मान्तरों के संचित कर्मो का जब सम्पूर्णता से विनाश हो जाता है तो भी हमें दुःखों का संयोग समाप्त हो जाता है। अर्थात् हम दुःखों के संयोग के वियोगी हो जाते हैं। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए तथा इस समझ को और इस अवधारणा को पुष्ट कर लेना चाहिए कि हमारे सुख और दुःख जो भी हैं वह सब हमारे कर्मफल का परिणाम हैं। जैसा कर्म हम करते हैं वे कर्म ही हमें वैसा परिणाम देते हैं शुभ कर्मो से सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्मो से हमें दुःख प्राप्त होता है। दुःख के संयोग में इस कारण हमारे कर्म ही आधारभूत तत्त्व हैं। एक साधक इस तथ्य को जान

लेता है। जैसे कोई रोगी यह जान जावे कि हमारा रोग अमुक कारण से है अर्थात् हम रोगी किस कारण से हैं? तो वह रोग के निवारण का प्रयास करता है और संवेदनशील होकर वह रोग से मुक्त भी हो जाता है। इसी प्रकार जब हम यह जान जाते हैं कि हमारे कर्म ही हमारे सुख और दुःख का हेतु हैं तो मनुष्य साधना करता है और अपने संचित कर्मो को साधना के द्वारा भस्म कर डालता है। संचित कर्म जब तक भस्म नहीं होते हैं और जब तक नवीन कर्मो से पाप का संचय बढ़ता जाता है। तब तक हमें सुख और दुःख का आभास होता है। इस कारण योगी बनने हेतु नवीन कर्मो में प्रवृत्ति का समापन भी करना पड़ता है। धीरे–धीरे संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं और जब संचित कर्म समाप्त होते हैं तो हमारे दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है, क्योंकि संचित कर्म ही फल देने में समर्थ होते हैं।

संचित कर्म अपना परिणाम निश्चित रूप से प्रकट करते हैं संचित कर्म किस स्वरूप में और कब अपना परिणाम प्रकट कर देंग? यह परमात्मा की कर्म व्यवस्था के आधार पर ही होता है। हजारों जन्मों के हजारों संचित कर्म अपना परिणाम प्रकट करते हैं तथा इस जन्म के कर्म भी परिणाम प्रकट करते हैं तभी तो सुख और दुःख की प्रतीति होती है। अर्थात् सुख और दुःख का संयोग होता है। यह निश्चित है कि संचित कर्मो का ऐसे विनाश नहीं होता है जब तक साधक साधना के उत्कृष्ट स्तर पर जाकर तत्त्व ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता है। तत्त्वदर्शन के उपरान्त संचित कर्म उस तत्त्वदर्शी मनुष्य के ज्ञानरूपी अग्नि में स्वतः ही भस्म हो जाते हैं। इस कारण योगी बनने के लिए, योग की सिद्धि के लिए संचित कर्मो का विनाश करना आवश्यक होता है। संचित कर्म सम्पूर्णता से समाप्त होने पर न तो दुःखों की उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति न होने से दुःख का संयोग स्वतः समाप्त हो जाता है। दुःखों के संयोग के वियोग को योग कहते हैं। इस आधार पर योगी मनुष्य की परिभाषा का निर्धारण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो मनुष्य दुःखों के संयोंग का वियोगी हो वहीं योगी है। प्रयोगात्मक रूप में येागी मनुष्य को दुःखों की प्रतीति कदापि नहीं होती है। इस समग्र जगत को परमात्मा की रचनात्मक शक्ति प्रकृति संचालित करती है तथा वह इसे एक संस्थान मानकर व्यवहार करती है। जगत में जो भी क्रियाऐं हो रही हैं वह सबकी सब प्रकृति के द्वारा उत्पन्न किये हुए गुणों के आधार पर हो रही हैं। गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। इस कारण जगत में जो सुख दुःख का प्राप्त होना प्रतीत होता है वह वास्तव में है ही नहीं यह सब स्वप्नवत् है। जैसे हम स्वप्न में अनेक प्रकार के सुख और दुःख का आभास करते हैं परन्तु वस्तुतः उसका वास्तविक अस्तित्त्व नहीं होता है केवल स्वप्न में प्रतीति मात्र होती है। इसी प्रकार उत्कृष्ट साधक को दुःखों के संयोग का

वियोग संचित कर्मो के विनाश के उपरान्त होता है। यदि हम योगी बनना चाहते हैं, तो हमें भी संचित कर्मो का विनाश करना पड़ेगा और जिससे दुःखों के संयोग से वियोग हो जाएगा।

8– कर्मफलों के त्याग तथा कर्तव्य कर्म के आचरण को योग कहते हैं :– जो साधक कर्म फल के आश्रय का त्याग कर देता है और कर्तव्य कर्मो का आचरण करता है। वह भी योगी हो जाता है और संयासी भी हो जाता है। इस सम्बंध में भगवद गीता के छठें अध्याय की श्लोक सं0 1 में विशिष्ट भाव की प्रस्तुति की गई है जो निम्न प्रकार है–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

भावार्थ– कर्मफल का आश्रय त्यागकर जो (साधक) शास्त्रसम्मत कर्म करता है वह संन्यासी है तथा योगी है। यज्ञादिक कर्मो का त्यागी संन्यासी नहीं है तथा क्रियाशीलता का त्यागी योगी नहीं होता है।

व्याख्या –(1) कर्मफल क्या है?–

मनुष्य तीन प्रकार से कर्म करता है जिन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा कहा जाता है। ये तीनों प्रकार के कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ कहा जाता है। शुभ कर्म का परिणाम (फल) शुभ, अशुभ कर्म का परिणाम अशुभ तथा शुभाशुभ कर्म का परिणाम शुभाशुभ (मिश्रित) होता है। इस प्रकार शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ कर्म का जो परिणाम होता है वह ही कर्मफल कहलाता है।

परमात्मा की कर्मफल की निश्चित, पारदर्शी तथा सुस्पष्ट व्यवस्था है। हम जो भी कर्म करते हैं उसका फल हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। शुभ कर्मों के सम्पादन से हमें शुभ परिणाम भी अवश्य प्राप्त होता है। अशुभ कर्मों के सम्पादन से अशुभ परिणाम भी अवश्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार शुभाशुभ कर्मों के सम्पादन से शुभ तथा अशुभ (सुख तथा दुःख) रूप फल अवश्य ही प्राप्त होता है। इसी को मिश्रित फल कहा जाता है।

परमात्मा की इस व्यवस्था में कोई दोष नहीं है। हमारे समग्र कर्म अवश्य परिणामी होते हैं। इस कारण कर्मफल हमें निश्चित ही प्राप्त होता है। जैसे हम माता पिता की सेवा करते हैं तो इस शुभ कर्म का फल हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। माता पिता की सेवा नहीं

करते हैं इस अशुभ कर्म का फल हमें दुःख के रूप में अवश्य प्राप्त होता है। हम अवसर पाकर माता–पिता की सेवा करते हैं और उन्हें कतिपय कारणों से कष्ट देते हैं तो इस मिश्रित कर्म का परिणाम भी हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। यह परमात्मा के अस्तित्त्व और उसकी स्पष्ट व्यवस्था का एक साक्ष्य है। इस कारण इस तथ्य से हमें संशयरहित हो जाना चाहिए कि हम दुष्कर्म करके उसके परिणाम (फल) से किसी प्रकार बच पायेगे । दुष्कर्म किया तो हमें उस का परिणाम अवश्य ही भुगतना पडेगा तथा सत्कर्म के कियान्वयन से सुख अवश्य प्राप्त होगा । इसी को कर्मफल कहा जाता है।

(2) मनसा कर्म क्या है?

परमात्मा ने मनुष्य को मन (mind) प्रदान किया है। मन की वृत्ति (कार्य) को संकल्प कहा जाता है। सहजता से यह कहा जाता है कि मन नाना प्रकार के विषयों पर निरन्तर (सुषुप्तिकाल को छोडकर) विचार करता रहता है। मन जो भी विचार करता है वह सबका सब 'मनसा कर्म' कहा जाता है। मन परमात्मा की अपरा प्रकृति का छठा तत्त्व है। इस कारण बहुत प्रबल है। वैकारिक अंहकार से 'मन' की उत्पत्ति मानी जाती है। प्रातःकाल से रात्रि सोने तक अर्थात् जाग्रत अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में भी मन विभिन्न प्रकार के विचार करता है। सम्पर्कित विषयों समस्याओं तथा भविष्य की सम्भावनाओं आदि पर मन विचार करता रहता है। हम जाग्रत अवस्था में मन का बहुत उपयोग करते हैं तथा निरन्तर उठते–बैठते, चलते, फिरते, कार्य करते, विश्राम करते हुये मन अपनी वृत्ति संकल्प में संलग्न रहता है। मन एक क्षण भी शान्त नहीं रहता, तथा निरन्तर गति करता रहता है। इस कारण ही मन को चंचल तथा प्रमथनशील कहा जाता है। मन की विचारण प्रक्रिया स्वप्नावस्था में भी रहती है, वह समाप्त नही होती। मन के द्वारा किया जाने वाला समस्त विचारण ही मानसिक कर्म कहा जाता है।

विशिष्ट तथ्य यह है कि सर्वप्रथम मानसिक कर्म ही होते हैं, तत्पश्चात् वाचिक और कायिक कर्म होते हैं। जब कोई विषय मन में आता है तब मन उस पर विचार करके बुद्धि को विनिश्चय हेतु संप्रेषित करता है। बुद्धि से उसका विनिश्चय होकर वह वाणी के द्वारा प्रकट–व्यक्त होता है। तदोपरान्त वह इन्द्रियों के द्वारा कियान्वित हो सकता है। इस प्रकार सर्वप्रथम मानसिक कर्म ही होता है। मन चूँकि जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में निरन्तर गतिशील रहता है। इस कारण उक्त दोनों ही स्थितियों में निरन्तर मानसिक कर्म हुआ करता है।

(3) वाचिक कर्म क्या है ?

मन जो भी विचार करता है वह वाणी के रूप में मनुष्य प्रकट करता है। यह वाचिक कर्म कहलाता है। मन के द्वारा विचारण की प्रक्रिया चला करती है और उस विचारित विषय का विनिश्चय बुद्धि करती है तथा विनिश्चित किया गया विषय हम वाणी के रूप में प्रकट कर देते हैं। जो भी वाणी प्रकट करती है वह सबका सब वाचिक कर्म कहलाता है। जब हम बातचीत करते हैं तो जो बोलता है, वह वक्ता होता है और अन्य श्रोता होते हैं। हमारे समक्ष जो कुछ बोला जाता है। वह वक्ता का वाचिक कर्म कहलाता है तथा हम जब बोलते हैं तो वह हमारा वाचिक कर्म कहलाता है। हम पहले जो शब्द–वाक्य सुनते हैं उसे हमारी श्रवणेन्द्रिय (कर्ण) ग्रहण करते हैं। श्रवणेन्द्रिय ग्रहण किये गये वाक्यों को मन को प्रेषित करती है, अथवा मन उसे स्वतः ही ग्रहण कर लेता है तथा मन ग्रहण किये विषय को बुद्धि को भेजता है। बुद्धि उसके उत्तर पर विचार करके वाणी के माध्यम से उसे प्रकट करती है। यह संक्रिया सेकेण्डों में होती है। इस प्रकार मन बुद्धि के सहयोग से वाणी जो भी कहती है। वह सबका सब वाचिक कर्म कहा जाता है।

(4) कर्मणा क्या है ?

हमारी इन्द्रियों तथा शरीर से जो कर्म किये जाते हैं वह कर्मणा कर्म कहे जाते हैं। आंख देखती हैं। कान सुनने की क्रिया करते हैं। नासिका सूघॅने की क्रिया में संलग्न रहती है। इस प्रकार जिह्वा तथा त्वचा रस ग्रहण करने में तथा स्पर्श की क्रियाओं में संलग्न रहती है। हाथों से आदान –प्रदान रूपी कर्म होता है। पैरों से गमन (चलने) की क्रिया होती है। उपस्थ तथा पायु से मुत्रत्याग ,मलत्याग ,की क्रियायें होती है। यह समस्त कर्म ही कर्मणा कर्म कहे जाते हैं। कर्मणा कर्म पर भी मन तथा बुद्धि का नियन्त्रण रहता है। मन तथा बुद्धि के निर्देश से ही समग्र इन्द्रियॉ कर्म करती हैं। इस कर्मणा कर्म का भी फल होता है।

मनसा ,वाचा ,कर्मणा कर्मों के तीन प्रकार हैं। प्रत्येक शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ कर्मों का प्रकार होता है। जिस श्रेणी का कर्म होता है। उसी श्रेणी का कर्मफल प्राप्त हो जाता है। समस्त मानसिक दुष्कर्मो का दूषित परिणाम विनिश्चय के उपरान्त सूक्ष्म रूप से होता है। तथा वैसे ही सत्कर्मो के विनिश्चय के उपरान्त उसका अनुकूल तथा शुभ परिणाम देखने में आता है। इस प्रकार समस्त कर्मों का फल अवश्य होता है। यही कर्मफल तथा प्रारब्ध का आधार भी है।

(5) कर्मफल का आश्रय क्या है ?

हम सभी जो भी कर्म करते है। वह कर्मफल पर विचार करके ही करते है। सामान्यतः पहले कर्मफल के बारे में विचार होता है। तत्पश्चात कर्म होता है। जैसे हम कोई व्यवसाय आरम्भ करते हैं तो उसके हानि लाभ के बारे में विचार ही कर्मफल का विचार है तथा इस प्रकार का विचार रखना ही कर्मफल का आश्रय है। संसार में जितने भी कर्म है उसके सम्पादन के पूर्व कर्मफल का विचार मनुष्य अवश्य करता है कि अमुक कर्म करेगें तो हमें अमुक फल की प्राप्ति होगी ,यह विचार रहता है। मनुष्य की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह कर्म के पूर्व कर्मफल के बारे में अवश्य ही विचार कर लेता है। प्रत्येक कर्म का आरम्भ चूकि मनसा कर्म से होता है इस कारण पहले मन से वह विचार करता है कि अमुक कर्म से हमें अमुक फल प्राप्त होगा । यह स्थिति साधारण रूप से प्रत्येक मनुष्य के साथ रहती है। जैसे दुष्कर्मी मनुष्य हत्या –डकैती –लूटपाट करता है। तो वह पहले ही विचार कर लेता है कि हमें इस लूटपाट रूपी कर्म से बहुत सारा धन प्राप्त हो जायेगा । उस धन से हम सुख प्राप्त करेगें तथा संसार के विषय भोगों की वस्तुओं को एकत्र करके आमोद – प्रमोद करेगें इस प्रकार का विचार ही कर्मफल का आश्रय है। इस प्रकार जब एक दुष्कर्मी मनुष्य भी दुष्कर्म के पूर्व ही फल के सम्बन्ध में विचार करता है। साधारणतयाः इस कर्मफल के आश्रय से मुक्त नही हो पाता है।

(6) कर्मफल का अनाश्रय क्या है ? (अनाश्रितः कर्मफलम्) – कर्म आरम्भ करने के पूर्व कर्मफल के सम्बन्ध में विचार न करना कर्मफल का आनाश्रय है। क्या बिना कर्मफल के विचार के भी कर्म हो सकता है ? जैसे हम कोई कर्म करे और यह विचार न करे कि हमें उस कर्म का फल प्राप्त होगा । दुष्कर्म के संबंध में भी यह विचार नहीं किया जा सकता है क्योंकि दुष्कर्मों के करने के पूर्व उन दुष्कर्मों के क्रियान्वयन तथा उससे होने वाले हानि लाभ के वारें में मनुष्य विस्तार से विचार कर लेता है। तत्पश्चात् वह बहुत विचार के उपरान्त ही दुष्कर्मो का सम्पादन करता है।यदि धन की प्राप्ति न हो तो कोई मनुष्य चोरी –डकैती–लूटपाट क्यों करेगा ? इस प्रकार के कर्म करने के पूर्व मनुष्य बहुत विचार करता है, कि अमुक दुष्कर्म से इतनी मात्रा में धन की प्राप्ति हो जायेगी । तब वह कर्म के सम्पादन पर विचार करता है। धन की प्राप्त की सम्भावना न हो तो लूटपाट– चोरी– डकैती क्यों होगी ?यह सबका सब कर्मफल का आश्रय है। इसी प्रकार शुभ कर्मो में भी मनुष्य शुभ कर्मो के क्रियान्वयन के पूर्व ही उसके फल पर विचार कर लेता है, कि हम अमुक शुभ कर्म कर रहे है तो हमें अमुक फल मिलेगा । स्वर्ग, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य धन पद आदि प्राप्त होगा । शुभ कर्मों के क्रियान्वयन के पूर्व इस पर विचार करना कर्मफल का

आश्रय है। क्या यह स्थिति प्राप्त हो सकती है? इस पर विचार करने से यह ज्ञात होता है, कि स्थिति सहजता से प्राप्त होना सम्भव नही है। हम शुभ कर्म करें और उसका परिणाम (फल) न चाहे तो सहज प्रतीत नही होता ।

(7) कर्मफल के आश्रय का त्याग कैसे ?–

जब साधक यह जान जाता है, कि हमें कर्मफल का अधिकार नही है। मात्र कर्म का अधिकार है। तो वह दो कार्य करता है –एक शास्त्रसंगत कर्मो के क्रियान्यवयन का प्रयास करता है तथा वह कर्मफल (कर्म के परिणाम) का विचार त्यागने लगता है। हम इस सम्बन्ध में दृढ.मत हो जावे कि हम जो भी कर्म करेगें तो उसका फल हमें अवश्य प्राप्त होगा,तब दुष्कर्मों के क्रियान्वयन का विचार भी धीरे –धीरे समाप्त हो जाता है, तथा हम शास्त्रों में वर्णित कर्मो के बारें में विचार करने लगते है और उसके क्रियान्वयन का भी प्रयास करते हैं। एक साधक दुष्कर्मो के परिणाम से सदैव भयभीत रहता है । जब कर्मफल का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है तो हमें कर्मफल के बारें में विचार करने का अधिकार ही नहीं है। यह तथ्य नितान्त सत्य है। हम कर्मफल के बारे में विचार करने से उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

कर्मफल के आश्रय के त्याग के बारें में दो ही तथ्य प्रमुख है। एक– कर्मो के शास्त्रसंगत आचरण का तथा उस आचरण से प्राप्त फल के विचार के त्याग का । जब हम शास्त्रसंगत आचरण करेगें तो हमें शुभ परिणाम स्वतः ही प्राप्त होगे। जब यह विचार बहुत दृढ.हो जाता है,तो कर्मफल के आश्रय का त्याग भी सहजता से हो जाता है। कर्मफल के आश्रय के त्याग के लिए वर्ण –आश्रम–कुल आदि कोई बन्धन नहीं है। कर्मफल के आश्रय का त्याग कोई भी साधक कर सकता है। कर्मफल के आश्रय के त्याग में यह तथ्य प्रमुख है कि हम शास्त्रों का अध्ययन करें ,शास्त्रों में उल्लिखित शास्त्रसम्मत कर्मों को जाने तथा कर्मफल के आश्रय के अभाव में कर्म करने की चेष्टा करें । जैसे हम दूसरो की सेवा रूपी कर्म करते है तो उसके धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति हो इस भावना का हमें त्याग कर देना चाहिए । हमें समाज सेवा रूपी शास्त्रसम्मत कर्मो से धन ,सम्पत्ति ,ऐश्वर्य ,प्रतिष्ठा आदि परमात्मा की व्यवस्था से स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। उनके लिये इच्छा की आवश्यकता नहीं होती । यदि उक्त प्राप्त हो जावे तो उनका उपयोग भी समाज सेवा के लिए ही करना चाहिए यही कर्म फल के आश्रय का उत्कृष्ट त्याग है।

(8) शास्त्र संगत कर्म करना – (कार्यं कर्म करोति यः)–

शास्त्र संगत कर्मो को जानना तथा उसका आचरण करना भी एक जटिल कार्य है। क्योकि कर्म की गति गहन है। गीताजी में कर्म के तीन स्वरूपों का वर्णन है जिन्हे (1)कर्म (2)अकर्म तथा (3)विकर्म कहा जाता है। इनमें अन्तर करना कठिन है। हमें कर्म के स्वरूप का अकर्म के स्वरूप का तथा विकर्म के स्वरूप का भी बोध होना चाहिए ।

संसार में असंख्य मनुष्य हैं। तथा असंख्य प्रकार के कर्म हैं। असंख्य मनुष्यों की प्रवृत्ति–प्रकृति पृथक्–पृथक् है तथा उनके कर्मो के सम्पादन भी पृथक्–पृथक् हैं। एक मनुष्य के लिए एक कर्म शास्त्रसम्मत है तथा दूसरों के लिए विकर्म है। इस कारण कर्म की व्यवस्था बहुत ही जटिल है।इस सम्बन्ध में एक तथ्य विशेष विचारणीय है कि जब दूसरों को उत्पीडित करके उनका शोषण करते हैं तथा अधिकतम वस्तुओं के उपयोग करने का प्रयास करते हैं तो हमारे कर्म विकर्म की श्रेणी में आ जाते है। इस कारण मनुष्य को दूसरों के उत्पीडन –शोषण का प्रयास नहीं करना चाहिए तथा दूसरों के अधिकार की वस्तुओं के उपयोग का प्रयास भी नहीं करना चाहिए । यह प्रवृत्ति हमें विकर्म से बचाये रखती है। साधारणतया जब हमें दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को स्वयं प्रयोग करने का प्रयास करते हैं तो हम साधरणतया शास्त्र के प्रतिकूल कर्मों का आचरण करते हैं ।

प्रत्येक मनुष्य जिस स्थिति में है उस स्थिति में उसके निश्चित कर्तव्य कर्म हैं। व्यक्ति चाहे निम्न पद पर विराजमान हो अथवा उच्च पदस्थ हो प्रत्येक के कर्तव्य कर्म उसके साथ रहते है। कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा, अतिक्रमण तथा व्यवहार न करने से मनुष्य शास्त्रसंगत कर्मों के आचरण से पृथक् हो जाता है । इस कारण परमात्मा की व्यवस्था के अधीन हमें जो भी सांसारिक भूमिका प्राप्त हुयी है ,जन सामान्य की सेवा हेतु प्राप्त हुयी है । इस कारण सबका विशेष दायित्व है कि वह स्वार्थपरता का त्याग करके लोगों की सेवा करें । यदि हम ऐसा करते हैं तो हम शास्त्र संगत कर्मो का आचरण नही करते है । इसके अतिरिक्त जिन कर्मों का शास्त्रों में उल्लेख है वे हमारे लिये अनिवार्य रूप से अनुकरणीय है। उनका भी आचरण करना चाहिए। यही शास्त्र सम्मत कर्म करना है।

(9) योगी तथा संन्यासी कौन है ? (सः संन्यासी च योगी)–

श्रीभगवान ने योगी तथा संन्यासी को एक समान कहा है। जो मनुष्य कर्मफल के आश्रय का त्याग करके शास्त्रसंगत कर्म करता है। वह योगी है तथा संन्यासी है। कर्मफल का आश्रय का त्याग कर देना तथा शास्त्रसम्मत करना ये दो पृथक् –पृथक् स्थितियॉ है।

दोनो ही कर्म यदि एक साथ चलते हैं तो यह विशेष तथ्य है। शास्त्रसम्मत कर्म करे तथा कर्मफल के आश्रय का त्याग कर दें तो साधक स्वतः ही योगी हो जायेगा तथा संन्यासी की उपाधि से भी विभूषित हो जायेगा। वैसे योगी को विशेष स्थिति वाला समझा जाता है तथा संन्यासी को विशेष आश्रम वाला मनुष्य जाना जाता है। योगी के लिए जो भी आवश्यक कर्म है तथा संन्यासी के लिए भी जो आवश्यक योग्यता है वह सब दोनों ही तथ्यों में समाहित हो जाती है। यह विशिष्ट तथ्य है कि साधक यदि शास्त्रसम्मत कर्मों का आचरण करें तथा कर्मफल के आश्रय का त्याग कर दें तो वही योगी हो जाता है तथा संन्यासी भी हो जाता है।

योग तथा योगी को विशिष्ट शब्दों में नहीं बॉधा जा सकता है, परन्तु श्री भगवान ने विशिष्ट शब्दों में बॉध दिया है। वैसे ही संन्यासी को भी विशेष स्थिति में रहना पङता है परन्तु श्रीभगवान ने उसे विशेष स्थिति में आबद्ध कर दिया हैं। शास्त्रसंगत कर्मों का बहुत विस्तार है तथा कर्मफल के आश्रय का त्याग भी कठिनता से होता है। परन्तु योगी होने के लिए उस विस्तार को समझना पडेगा तथा कर्मफल के आश्रय के त्याग का विधिवत आचरण करना पडेगा । शास्त्रसंगत कर्मो के आचरण से तथा कर्मफल के आश्रय के त्याग से योगी तथा संन्यासी की स्थिति कैसे प्राप्त हो जाती है ?यह परम विचारणीय तथ्य है।

शास्त्रसंगत कर्मो के आचरण से मनुष्य शुद्ध हो जाता है जिससे अशास्त्रीय कर्मो के आचरण से आयी अशुद्धता समाप्त हो जाती है। मनुष्य स्वभावतः शुद्ध है, उसका परम स्वरूप परम शुद्ध है परन्तु उसमें अशास्त्रीय कर्मों के आचरण से अशुद्धता का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे कोई पात्र यदि प्रतिदिन धोया –मांजा न जावे तो वह स्वतः ही अशुद्ध तथा गन्दा हो जाता है। इसी प्रकार यह मानव शरीर भी स्वभावतः शुद्ध है परन्तु अशास्त्रीय कर्मो के आचरण से यह अशुद्ध हो जाता है। इस कारण इसकी शुद्धि का एक उपाय है कि हम शास्त्रीय आचरण करें । शास्त्रीय आचरण से शरीर में स्वतः ही शुद्धता आ जायेगी तथा ऐसे निरन्तर आचरण से पूर्ण शुद्धता आ जाती है तथा मनुष्य योगी हो जाता है। यह शास्त्र सम्मत कर्मो के आचरण का ही परिणाम है।

शास्त्रसम्म कर्मों के आचरण में कर्मफल के आश्रय का त्याग का विचार परमात्मा के अधिकार का हमें बोध कराता है। साधक के मन में जब यह विचार आ जाता है, हम शास्त्रसंगत कर्म करें तथा परमात्मा के अधिकार की अनुभूति करें । जब हम कर्म के पश्चात उसके परिणाम की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं तो परमात्मा के अधिकार का अतिक्रमण करते हैं। अधिकांश लोग कर्म करके फल प्राप्ति की चेष्टा करते हैं। यह चेष्टा

तथा फल प्राप्ति का प्रयास भ्रमपूर्ण है। कर्म के पश्चात हमें फल निश्चित मिलेगा हमारी चेष्टा इसमें काम नहीं आयेगी । कर्मफल को हम चेष्टा से अथवा अथक प्रयास से प्राप्त नहीं कर सकते हैं, वह तो श्री भगवान की ओर से स्वतः ही प्राप्त होता है ।यदि हम शास्त्रसम्मत कर्म करते हैं तथा फलेच्छा का त्याग करते हैं तो हमें स्वयं ही फल प्राप्त होता है। योगी और संन्यासी की संज्ञा से भी विभूषित होते हैं। इस प्रकार वह साधक योगी भी है तथा संन्यासी भी है जो फलेच्छा का परित्याग करके शास्त्र सम्मत कर्मों का आचरण करता है।

(10) निरग्नि तथा अक्रिय मनुष्य संन्यासी योगी नहीं होता(च न निरग्निं चाक्रियः)

संन्यास आश्रम में दो तथ्य विशिष्ट आ जाते हैं एक तो संन्यासी यज्ञादिक कर्मों को नहीं करना चाहता हैं तथा बहुत संन्यासी अग्नि से पके हुये अन्न को भी त्याग देते हैं। यज्ञादिक कर्मों का त्याग तथा अग्नि से पकाये अन्न के त्याग करने को निरग्नि कहा जाता है। निरग्नि होने के पश्चात मनुष्य संन्यासी हो जाता है अथवा वह अपने को संन्यासी समझता है तथा अपने को संन्यासी मानने लगता है। श्रीभगवान की दृष्टि में निरग्नि मात्र से ही मनुष्य पूर्ण संन्यासी नहीं हो सकता है। इसके लिए शास्त्र सम्मत कर्मों का फलेच्छा से त्याग करके आचरण कर लेने से ही पूर्ण संन्यासी की स्थिति आ जाती है । इस प्रकार निराग्नि को पूर्ण संन्यासी मान लेना सही नहीं है। यदि संन्यासी ने शास्त्रसम्मत कर्मों के आचरण का त्याग कर रखा है तथा फलेच्छा की भावना है तो उसके संन्यासीपने में संन्दिग्धता रहेगी इस संबंध में दो तथ्य विचारणीय है।

(क) संन्यासी भी शास्त्र की मर्यादा से आबद्ध है–

मनुष्य चाहे वह किसी भी वर्ण तथा आश्रम का हो अथवा देवसृष्टि का सदस्य हो प्रत्येक के लिए शास्त्र की मर्यादा है। शास्त्रों के जो नियम है वे सभी के लिए हैं। ब्रह्मचारी ,गृहस्थ , वानप्रस्थ तथा संन्यासी प्रत्येक शास्त्रों के नियम से बॅधें हैं। प्रत्येक के लिए शास्त्रों के पृथक् –पृथक् नियम हैं हम सभी शास्त्रों की मर्यादा से बॅधे हुये हैं। संन्यास की दीक्षा के पूर्व ही संन्यासी को संन्यास धर्म से परिचित करा दिया जाता है। उसके गुरू के द्वारा संन्यास धर्म के नियमों को कडाई से पालन करने को कहा जाता है । यह शास्त्र के नियम ही शास्त्र की मर्यादा कहे जाते है । संन्यासी यदि संन्यास धर्म का पालन नहीं करता है वह अपनी स्थिति से च्युत हो जाता है।

(ख) संन्यासी हेतु फलेच्छा का त्याग अनिवार्य है –

संन्यासी के लिए फलेच्छा का त्याग विशिष्ट त्याग है । संन्यासी अपने जीवन की आवश्यक उपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का त्याग दीक्षा के समय ही कर देता है। सांसारिक वस्तुओं तथा संबन्धों के उपयोग की सीमा है तथा इस सीमा में मर्यादा ही उसका गुण है। **'वसुधैव कुटुम्बकम् '** ही उसका परिवार है । संन्यासी समग्र कर्म मानव कल्याण के लिए निष्काम भाव से करता है । 'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' ही उसका कर्म सिद्धात है इसी सिद्धान्त के आधार पर कर्म करके वह फलेच्छा का त्याग कर देता है सबके हित तथा सबके सुख की भावना से कर्म करने पर फलेच्छा का त्याग स्वतः ही हो जाता है संन्यासी हेतु फलेच्छा का त्याग ही एक महत्वपूर्ण तथ्य है वही पूर्ण संन्यासी है जिसने फलेच्छा का पूर्ण त्याग कर दिया है। फलेच्छा के त्याग से शास्त्र सम्मत कर्म स्वतः ही होने लगते है क्योकि शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन मनुष्य स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही करता है ।

(ग) शास्त्र संम्मत आचरण, फलेच्छा के त्याग से मनुष्य संन्यासी हो जाता हैः–

मनुष्य किसी भी वर्ण आश्रम का सदस्य हो यदि वह शास्त्र सम्मत कर्म करता है स्वधर्म पालन करता है तथा फलेच्छा का त्याग कर देता है तो वह संन्यासी ही मानने समझने योग्य है । संन्यासी बनना तथा संन्यासी होना दो पृथक् –पृथक् बातें हैं संन्यासी बनने में दोष रह सकते है परन्तु संन्यासी होने में दोषरहित स्थिति आ जाती है यदि संन्यासी शास्त्र की आज्ञा का उलंघन करके फलेच्छा की दृष्टि से कर्म करता है तो वह संन्यासी हुआ व्यक्ति अपनी स्थिति से नीचे गिर जाता है । दोषी हो जाता है यदि किसी भी वर्ण आश्रम का व्यक्ति शास्त्र की आज्ञा की अवहेलना नहीं करता है तथा फलेच्छा का त्याग करके कर्म करता है तो वह पूर्ण संन्यासी ही है । संन्यासी होना तो अच्छा है पर संन्यासी बन जाना श्रेष्ठ है । संन्यासी होना उत्कृष्ट है परन्तु बन जाना सर्वोत्कृष्ट है ।

(घ) संन्यासी के विशिष्ट धर्म –

(1) संसार के व्यापार –व्यवहार से मुक्त रहना ।

(2) सम्मान प्रतिष्ठा से रहित व्यवहार ।

(3) सर्वत्र एक समान व्यवहार ।

(4) क्रोध से रहित शान्त आचरण ।

(5) अनावश्यक प्रलाप, तर्क वितर्क से मुक्त पूर्ण शान्त आचरण ।

(6) सांसारिक क्रियाकलापों से रहित दृष्टि ।

(7) कामना संकल्प – लोभ रहित चेष्टा ।

(8) सांसारिक मनुष्यों की चेष्टाओं के पूर्ति पूर्ण उदासीन ।

(9) सुख दुःख ,हानि लाभ में सम रहना ।

(10) शास्त्र ध्यान में रूचि तथा आत्म साक्षात्कार का प्रयास ।

(11) सत् के अवलम्वन तथा असत के परित्याग की भावना ।

(ङ) अक्रिय योगी नहीं होता है –

अक्रिय मनुष्य योगी नहीं हो सकता है। योगी का प्रथम चरण ही क्रियाशीलता है। शम, दम, तपादि, यम, नियम आसनादि जितने भी योगी बनने के साधन हैं वे सबके सब क्रियाशीलता के पर्याय हैं। क्रियाशीलता समाप्त होते ही योगी की साधना को विराम लग जाता है। इस प्रसंग में ध्यान योग के साधन का विषय हैं। इस कारण ध्यानयोग के साधन में क्रियाशीलता की विशेष आवश्यकता होती है। ध्यान में बैठना पड.ता है तथा संसार से ध्यान हटाकर लक्ष्य पर ध्यान टिकाने की जितनी सक्रियता होती है, उतनी ही तीव्रता से ध्यान का विकास होता है। इस प्रक्रिया में क्रियाशीलता के घटते ही ध्यान का घटना आरम्भ हो जाता है। ध्यान परमात्मा का किया जाता है तथा संसार से चित्त को हटाया जाता है और परमात्मा में समाहित किया जाता है। यही ध्यान की परिभाषा है। चित्त संसार से हटकर परमात्मा में समाहित हो जावें इसी का नाम **योग** है। जब तक चित्त संसार में रहता है तब तक ध्यानयोग की पूर्णता नहीं होती । चित्त का संसार में रहना तथा परमात्मा की ओर भी रहना व्याभिचारिणी योग कहलाता है। संसार से चित्त के हटने तथा परमात्मा में समाहित करने में क्रियाशीलता ही आधार है। इस कारण श्री भगवान कहते है कि अक्रिय योगी नहीं होता । शास्त्र सम्मत कर्मों का आचरण तथा फलेच्छा के त्याग में रहना ही योगी की विशिष्टता है।

छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में संन्यासी तथा योगी को एक स्वरूप में स्थापित किया गया है। कोई भी मनुष्य फलेच्छा का त्याग करके शास्त्र सम्मत कर्मों का आचरण करता है तो वह संन्यासी भी है तथा योगी भी है। इस प्रकार शास्त्र सम्मत कर्म को,

फलेच्छा के त्याग को बहुत महत्व दिया गया है। श्री भगवान ने उसे संन्यासी तथा योगी कह दिया है। वस्तुतः शास्त्र सम्मत कर्म तो सभी का आधार है, परन्तु फलेच्छा का त्याग बहुत ही महत्वपूर्ण है। फलेच्छा का त्याग जब तक नहीं होता है। तब तक मनुष्य स्वार्थी रहता है तथा फलेच्छा त्याग करते ही वह परमार्थी हो जाता है और परमात्मा के फल के अधिकार को छोड.देता है। परमात्मा के फल के अधिकार का अभिप्राय बहुत ही विशिष्ट है। इस कारण श्री भगवान ने फलेच्छा के त्यागी को योगी तथा संन्यासी कहा है।

(च) योगी के विशिष्ट धर्म –

(1) समस्त प्रकार के संकल्पों का पूर्ण परित्याग ।

(2) चित्त को परमात्मा में समाहित करने का प्रयास ।

(3) परमात्मा के साथ स्वाभाविक रूप में रहने की क्रिया का निष्पादन ।

(4) संसार में चित्त को जाने की प्रक्रिया में विराम ।

(5)अपने सादृश्य ही समस्त जीवों को समझना ।

(6) परमात्मा से अतिशय प्रीति करना ।

(7) संसार की वस्तुओं तथा व्यक्तियों से स्नेह का समापन ।

(8) शुद्ध सत्त्वगुण में स्थित रहना ।

(9) रजोगुण की वृत्ति का पूर्ण त्याग ।

(10) परमात्मा का पूर्णाश्रय ग्रहण कर लेना ।

(11) कर्तापन के भाव से मुक्त होने का प्रयास ।

साधक जब अपने कर्तव्य कर्मो को जान जाता है तब उसके आचरण करने का प्रयास करता है। योगी प्रत्येक कर्म में अपने कर्तव्य का सम्यक् प्रकार से अवलोकन करता है क्या कर्म करना है ? क्या कर्म नहीं करना है यह विचार अवश्य करता है। प्रत्येक कर्म के पूर्व यह विचार रहता है। अनेक प्रकरणों में मनुष्य अपने कर्तव्य कर्म को नहीं जानता है। परन्तु जब कभी उसे अपने कर्तव्य कर्मो में भ्रम तथा संशय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो वह मनीषियों, संतों से पूछकर उसका आचरण करता है। इस प्रकार कर्तव्य कर्मो के आचरण से मनुष्य की स्थिति प्रबल हो जाती है और वह योग की ओर उन्मुख होता है।

कर्तव्य कर्मो के आचरण से मनुष्य में एक प्रकार के आत्मिक बल की उपलब्धि होती है। वैसी उपलब्धि सांसारिक कर्मो से कदापि नहीं होती है। आत्मिक बल की प्रबलता से साधक की उन्मुक्तता परमात्मा की ओर हो जाती है। यही योग की ओर बढ़ने का लक्षण है। अकर्तव्य कर्मो के आचरण से भय की मिथ्या प्रतीती होती है। मनुष्य आशंकाओं से स्वतः ही भयभीत रहता है, प्रभावित रहता है उसके प्रतिकूल कर्तव्य कर्मो के आचरण से मनुष्य में अभय का भाव आ जाता है। इस कारण कर्तव्य कर्मो के आचरण से योग की उन्मुक्तता बढ़ती है।

कर्तव्य कर्मो के आचरण वाला साधक यह जानता है कि हम जो भी कर्तव्य कर्म कर रहे है उसका परिणाम अवश्य ही होगा। अकर्तव्य कर्म का अनुशरण करने वाले को फल की प्राप्ति का प्रयास करना पड़ता है। क्योंकि वह फल की प्राप्ति के प्रति संशय ग्रस्त रहता है। कर्तव्य कर्मो का आचरण करने वाला फल के आश्रय का त्याग कर देता है तथा यह विचार करता है कि यह फल परमात्मा की ओर से निश्चित ही आना है। इस कारण वह परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है। फलाश्रय के त्याग पर विचार भी नहीं करता है। यह स्थिति जब दृढ हो जाती है तो कर्तव्य कर्म के आचरण से फल तो प्राप्त होता है और फल के विचार को के त्याग से परमात्मा का आश्रय दृढ़ हो जाता है जिससे परमात्मा में उसकी स्थिति दृढ़ होती जाती है। प्रमुख तथ्य परमात्मा के आश्रय की दृढ़ता ही है। एक कर्म फल का त्यागी भोगी होने पर पूर्ण रूप से परमात्मा के आश्रय में ही जीता है। उसके समस्त क्रियाकलाप भी परमात्मा में होते है। इस प्रकार साधक को कर्तव्य कर्म के सम्यक आचरण से तथा उन कर्तव्य कर्मो के कर्मफल त्याग से योगकी उपलब्धि हो जाती है और वह पूर्णरूपेण योगी हो जाता है।

9– तीन प्रकार के योगी–मुक्तयोगी, परमयोगी तथा सर्वश्रेष्ठ योगी :–

शास्त्रों में तीन प्रकार के योगियों का वर्णन आता है जिन्हें क्रमशः 1– मुक्त योगी 2– परम योगी तथा 3–सर्वश्रेष्ठ योगी कहा जाता है। यह तीनों प्रकार के योगी अपने गुणों के कारण सर्वश्रेष्ठ हैं। पहले उक्त तीनों प्रकार के योगियों की संक्षिप्त व्याख्या का अवलोकन कीजिए,तत्पश्चात् उस व्याख्या से सम्बंधित तथ्यों का प्रस्तुतीकरण किया जाएगा। **1– मुक्तयोगी :** जिस उत्कृष्ट साधक का अंतःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ है तथा जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है और जो मिट्टी के टुकड़े, पत्थर के टुकड़े और स्वर्ण के टुकडों में समान स्थिति वाला हो गया है वही मुक्तयोगी है।

2– परमयोगी : जो उत्कृष्ट साधक अपने समान ही अन्य जीवों को देखता है तथा वैसा ही व्यवहार करता है। उस साधक को परमयोगी कहा जाता है।

3– सर्वश्रेष्ठ योगी : जो उत्कृष्ट साधक एकमात्र परमात्मा में श्रद्धा करके एकमात्र परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण कर लेता है तथा एकाग्रचित्त होकर परमात्मा का चिंतन करता है। वह सर्वश्रेष्ठ योगी कहलाता है।

(क) मुक्तयोगी की चार स्थितियां :–

जो उत्कृष्ट साधक निम्न चार स्थितियों को प्राप्त कर लेता है वह मुक्तयोगी कहा जाता है। मुक्तयोगी की चारों स्थितियों का वर्णन उपरोक्त प्रकार से किया गया था। यहां पर उन्हें विस्तार से वर्णित किया जा रहा है कृपया उसका अवलोकन कीजिए।

(एक) ज्ञान से अंतःकरण की तृप्ति :–

परमात्मा से सम्बंधित जानकारी को ज्ञान कहा जाता है। जानकारी के साथ अनुभूति की प्रक्रिया को भी इसी ज्ञान में सम्मिलित कर लेना चाहिए। परमात्मा इस जगत की सर्वोच्च सत्ता है तथा इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भी करता है। वही समग्र जीवों में चैतन्यता का कारण है। वह जगत के समस्त जीवों और उनके विषयों का ज्ञाता है। सबका आदिकारण है अर्थात् उत्पत्ति का हेतु है। उसकी सत्ता एवं शासन सर्वत्र है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है तथा वह सबका धारण पोषण करने वाला है। अज्ञान से अत्यंत परे है, इस कारण सूर्य के सृदश ज्ञान से आच्छादित है। मन और बुद्धि के विचार में नहीं आने वाला है, परन्तु मन और बुद्धि की विचार शक्ति है और मन और बुद्धि में जो विचार आते हैं उन सबका जानने वाला है।

परमात्मा सब ओर हाथ और सब ओर पैरों वाला है। सब ओर सिर और सब ओर मुख वाला है। इन्द्रियरहित होकर भी इन्द्रियों के समस्त भोगों को जानने वाला तथा भोक्ता भी है। परमात्मा निर्गुण होकर गुणों से युक्त भी है। यह सबका सब परमात्मा का ज्ञान है और परमात्मा के ज्ञान का निर्देश है जो भी उपरोक्त प्रकार से वर्णित हुआ है। वह परमात्मा के गुणों का मात्र एक आंशिक वर्णन है, परन्तु परमात्मा वास्तविक रूप से इससे बहुत अधिक ज्ञान वाला है। मनुष्य के मन बुद्धि में जो शक्ति है वह परमात्मा के ज्ञान का वर्णन नहीं कर सकती है क्योंकि परमात्मा अचिंत्यस्वरूप है जैसे समुद्र की गहराई को सामान्य मनुष्य जान पाने में असमर्थ है। वैसे ही परमात्मा के ज्ञान का वर्णन मानव बुद्धि नहीं कर सकती है। परमात्मा का ज्ञान सूर्य के समान है और उसके समक्ष मानव की बुद्धि

एक दीपक की तरह से भी नहीं है। सूर्य के प्रकाश के समक्ष दीपक का कितना प्रकाश हो सकता है उसकी परिकल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। मुक्तयोगी परमात्मा के इस विशिष्ट ज्ञान से तृप्त रहता है वह परमात्मा की सत्ता को उसके प्रभाव को, उसकी शक्ति को यथावत् जानता है जैसे एक सामान्य मनुष्य हाथी की शक्ति को नहीं जानता है तथा उसके समक्ष नतमस्तक रहता है। वैसे ही मुक्तयोगी परमात्मा की स्थिति को जान जाता है इस कारण उसके समक्ष नतमस्तक रहता है।

मनुष्य कभी–कभी सांसारिक ज्ञान की जानकारी में तृप्ति का आभास करता है। सांसारिक ज्ञान से तृप्ति तो होती नहीं उसकी मिथ्या प्रतीति होती है। जैसे कोई चिकित्सक चिकित्सा विज्ञान का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह चिकित्सक विशिष्ट हो जाता है उसे आभास हो जाता है कि हमने बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर लिया है परन्तु जब वह देखता है कि हमसे विशिष्ट ज्ञान वाले चिकित्सक भी हैं तो उसे अपने ज्ञान में अतृप्ति का आभास होता है। इस प्रकार यह तृप्ति का आभास चला करता है। यह ज्ञान की वास्तविक तृप्ति नहीं है।

परमात्मा के ज्ञान में उत्कृष्ट साधककी जब सिद्धावस्था आ जाती है तब वह परमात्मा की स्थिति, ज्ञान, अस्तित्त्व का आभास करके उसमें डूब जाता है। चूंकि तृप्ति का विषय अंतःकरण से ही आभास होता है, इस कारण उसकी मन और बुद्धि परमात्मा के विचार में डूबती है। सांसारिक विषयों में भी इद्रियों के विषयों के सहयोग से मन बुद्धि तृप्ति का आभास करती है। यह आभास मिथ्याभास है, इस कारण परमात्मा के ज्ञान की तृप्ति जब साधक को होती है तब वह मन बुद्धि में विशेष प्रकार का अनुभव करता है और उसमें अहंकार का सर्वथा अभाव हो जाता है।

परमात्मा के ज्ञान की तृप्ति अंतःकरण से आभास की जाती है। वस्तुतः मन बुद्धि परमात्मा के विषय में डूब जाती है यह तथ्य उसी प्रकार है जैसे संसार के किसी विषय में जब मनुष्य डूबता है तो उसे बाह्य जगत की प्रतीति नहीं रह जाती है और वह उसी विषय के बारे में विचार करता है अथवा जब मनुष्य किसी नशीले पदार्थ का सेवन करता है तो वह उसके नशे में इतना डूब जाता है कि तो उसकी बाह्य जगत की संज्ञानता समाप्त हो जाती है। नशे में डूबे मनुष्य को नशे में तृप्ति का आभास होता है। यद्यपि यह नशे के प्रभाव तक ही रहता है। कुछ इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान में डूबा साधक उसमें ही डूबा रहना चाहता है। यह एक ऐसा परम आनन्द है जिसमें डूबकर बाह्य जगत की प्रतीति समाप्त हो जाती है और साधक जगत के विषयों से अपने को पृथक् कर लेता है। परमात्मा

के ज्ञान में डूबा योगी मुक्तयोगी कहलाता है, क्योंकि वह बाह्य सांसारिक विषयों से पृथक् हो जाता है।

(दो) परमात्मा के विज्ञान से तृप्ति :–

परमात्मा का ज्ञान तथा उसके विषयों को जिन साधनों से जाना जाता है उसे परमात्मा का विज्ञान कहते हैं। जैसे विज्ञान विषय में कई विभाग है, भौतिकी, रसायन, वनस्पति, जीव, सूचना प्रौद्योगिकी आदि आदि परन्तु सबके सब विज्ञान के ही अंश हैं। हम जब उक्त विषयों के बारे में कहीं बातचीत करते हैं तो उसमें भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान आदि आदि कहते हैं। इन सभी में विज्ञान शब्द उभयनिष्ठ है। इसी प्रकार परमात्मा विज्ञान के भी अनेक विषय हैं, जिन्हें वेदान्त, सांख्य, योग, भक्ति आदि कहा जाता है। सबके सब पराविद्या के भाग हैं। उन सबमें परमात्मा से सम्बंधित विज्ञान का, निरूपण किया गया है। पवित्र वेदों के ज्ञानकांड, उपनिषदों, दार्शनिक ग्रंथों, स्मृतियों, श्रीमद्भगवद्गीता, तथा महापुरूषों द्वारा लिखे गए ग्रंथों में परमात्मा के विज्ञान का विशेष रूप से निरूपण हुआ है। जब आप उनका अध्ययन करते हैं तो हमें परमात्मा से सम्बंधित ज्ञान प्राप्त होता है। परमात्मा क्या है ? कैसा है ? किस शक्ति वाला है ? कैसे स्वरूप वाला है ? आदि आदि प्रश्नों का उपर्युक्त ग्रंथों में निरूपण किया गया है। साधक अनेक प्रकार के साधनों को तथा परमात्मा की विषय वस्तु को पढ़कर उसका ज्ञान कर लेता है। यह सबका सब ज्ञान अध्ययन से होता है। इस कारण इसे परमात्मा के बारे में सैद्धान्तिक ज्ञान कहा जाता है। सैद्धान्तिक ज्ञान से परमात्मा की स्थिति, स्वरूप, क्रिया आदि का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, यह सैद्धान्तिक ज्ञान ही प्रयोगात्मक ज्ञान की अनुभूति के आधार हैं।

परमात्मा से सम्बंधित विज्ञान के जितने भी साधन हैं उनका निरूपण शास्त्रों में पृथक्–पृथक् प्रकार से हुआ है। उन सबमें परमात्मा के स्वरूप में चिंतन की एकरूपता, नित्यता का प्रयास करना पड़ता है। साधन कोई भी हो जब तक मन बुद्धि में परमात्मा पूरी तरह से समाता नहीं है, तब तक वह हमारे समीप नहीं आता है और न ही उसकी हमें अनुभूति होती है। इस प्रकार परमात्मा की अनुभूति के जितने भी विज्ञान हैं वह सबके सब अंततः हमें परमात्मा में डूबने और खोने की क्रिया का निरूपण सिखाते हैं। मुक्तयोगी परमात्मा के विज्ञान को जान जाता है और उसमें डूबता है। परमात्मा के ज्ञान में तो डूबता है, उसका जो विषय हैं उसमें भी साधक डूब जाता है। यह समस्त विज्ञान व्याख्या से परे होने के कारण अनिर्वचनीय कहा जाता है। मुक्तयोगी परमात्मा की अनुभूति करता है।

परमात्मा का वास्तविक विज्ञान तो बड़ा ही विलक्षण है जिसे जानने पर मनुष्य संसार को छोड़कर परमात्मा के ज्ञान में डूबना चाहता है। इस ज्ञान से तथा विज्ञान से तृप्त होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। जीवन रहते मुक्त रूप से विचरण करता है। शरीर में आबद्ध प्रतीत होकर भी वह स्वतंत्र हो जाता है। उसकी बद्धता प्रतीत होती है, परन्तु वह सर्वथा मुक्त अवस्था में रहता है।

(तीन) मुक्तयोगी कूटस्थ के समान हो जाता है :–

संसार में एक सामान्य मनुष्य संसार की समस्याओं से व्यथित रहता है। आज के समाज में संभवतः ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो संसार की परिस्थितियों से विचलित न हो। चाहें किसी भी स्तर का मनुष्य हो। चाहें वह आर्थिक रूप से अति सम्पन्न हो और उसके प्रतिकूल अति विपन्न हो। परम शक्तिशाली हो तथा उसके प्रतिकूल निर्बल और कमजोर हो सबके सब आपको समस्याओं से घिरे हुए प्रतीत होंगे। किसी के समक्ष आर्थिक समस्या है तो किसी के समक्ष सामाजिक और पारिवारिक समस्याएं है। समस्याओं में भी मनुष्य निरन्तर उद्विग्न रहता है, परेशान रहता है। उद्विग्नता की स्थिति में उसकी मानसिक स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। बुद्धि के विनिश्चय की शक्ति में ह्रास होता है। यह स्थिति आज के समाज में लगभग प्रत्येक व्यक्ति के साथ है। स्थिति परिवर्तित नहीं होती है। इस परिवर्तन न होने का कारण हमारी सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, समस्याएं है।

एक मनुष्य प्रातःकाल जब सोकर जागता है तो उसे यह ज्ञात रहता है कि उसके व्यापार में कितना लाभ हुआ। अथवा कितना घाटा हुआ। यदि उसे आर्थिक घाटा होता है तो उसके अंतःकरण में एक आर्थिक नुकसान के धक्का लगता हैं। आर्थिक चोट से मनुष्य का विचलित होना अनिवार्य है। वह जब सोकर जागा तो स्वास्थ्य तथा उसकी मानसिक स्थिति शान्त थी। आर्थिक घाटे को सुनकर वह अशान्त हो गया। उसने घटना देखी नहीं मात्र सुनी है। सुनकर वह इतना व्यथित हो गया कि उसका अंतःकरण अत्यंत उद्विग्न हो गया। यह कूटस्थ के प्रतिकूल भाव है।

किसी घटना, परिस्थिति की प्रतिकूलता को देखकर, सुनकर, आभास करके शान्त रहना और उद्विग्न न होना कूटस्थ कहा जाता है तथा किसी प्रतिकूल घटना को देखकर सुनकर उद्विग्न होना कूटस्थ के प्रतिकूल भाव है। पहले गांव में लोहार नामक जाति होती थी। अब भी अनेक गांव में रहती है। उसका पैतृक व्यवसाय था। गांवों में खेतों से सम्बंधित औजार फावड़ा, कूदाल, कुल्हाड़ी आदि में धार बनाने का कार्य करता था। पहले आग पर खेती से सम्बंधित उपकरणों को पर्याप्त गर्म किया जाता है और फिर वे हथौड़े से

कूटे जाते है। जिस पर उपकरण रखकर कूटे जाते है वह लोहे का एक बड़ा टुकड़ा होता है। जिसे कूट कहा जाता है। हथौड़ी द्वारा बार–बार चोट करने के बावजूद भी वह लोहे का टुकड़ा अपरिवर्तित रूप में रहता है। उसकी स्थिति और आकार एक समान रहता है। स्वर्णकारों के यहां भी एक कूट रहता है। जिस पर स्वर्ण के आभूषण रखकर स्वर्णकार उसे पीटते है और आभूषण आदि की मरम्मत करते हैं। यह भी कूट कहा जाता है जो अनेक हथौड़ी की चोट से भी अपने आकार को परिवर्तित नहीं करता है। मनुष्य भी अनेक आर्थिक, मानसिक, पारिवारिक, सांसारिक, झंझावातों, प्रतिकूल घटनाओं तथा परिस्थितियों से चोट खाकर यदि विचलित नहीं होता है तो उसे भी कूट की तरह से ही समझना चाहिए। अर्थात् उसे कूटस्थ कहते है। क्योंकि वह कूट की तरह स्थित है।

मनुष्य में कूटस्थ का भाव क्यों नहीं उत्पन्न हो पाता है ? उसकी स्थिति समस्याओं के साथ परिवर्तित हुआ करती है क्यों हुआ करती है ? यह विचारणीय विषय है। जैसे कूट पर हथौड़े से बराबर चोट किये जाने के बावजूद उसमें परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु यह स्थिति एक सामान्य व्यक्ति की प्रतीति नहीं होती है। वह जैसे ही किसी प्रतिकूल स्थितियों के सम्पर्क में आता है तो वह तत्काल ही विचलित हो जाता है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि परिवर्तित परिस्थितियों में अपने को अपरिवर्तित नहीं रख पाता है। प्रतिकूलता उसे बार–बार परेशान करती है। इस कारण वह निरन्तर परिवर्तित हुआ करता है। मुक्तयोगी की यही विशेषता होती है कि वह प्रतिकूलताओं से परेशान नहीं होता है। वह जानता है कि प्रतिकूलताएं आती हैं और समय के साथ विदा लेती हैं। उनका कोई स्थायी अस्तित्त्व नहीं है। वे संयोग उत्पन्न करती हैं और हमें विचलित करने का प्रयास करती है परन्तु उनका प्रभाव स्थायी नहीं रहेगा। मुक्तयोगी कभी भी किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता और वह कूट की तरह से स्थिति रहता है।

(चार) समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है :–

मनुष्य शरीर में दस इन्द्रियां होती है तथा 11वें मन को इन्द्रियों का स्वामी कहा जाता है। दस इन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां होती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों में कान, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका होती है। कान का गुण शब्द है। नेत्र का गुण रूप अर्थात् देखना है, जिह्वा का गुण रस है, त्वचा का गुण स्पर्श है। नासिका का गुण गंध है। उसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियां होती है जिन्हें वाक्, हस्त, पाद, वायु, उपस्थ कहा जाता है। इनके भी क्रमशः उक्त पांच गुण होते हैं। हमारी इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति होती है कि वे सांसारिक वस्तुऐं तथा भोगों की ओर स्वतः ही आकर्ष्रित होते हैं और इस आकर्षण में

मन का सहयोग भी रहता है। सामान्य मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह कानों से मधुर शब्द सुनना चाहता है। नेत्रों से मनोहर दृश्य देखना चाहता है। जिह्वा से स्वादिष्ट भोजन करना चाहता है। त्वचा से कोमल स्पर्श की आकांक्षा करता है। नासिका से सुगन्ध ग्रहण करने का आकांक्षी होता है। यह सब ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति हैं। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियां भी अपने विषयों में सुख की अनुभूति चाहती है और इसमें मन का सहयोग रहता है। इन्द्रियां मन के सहयोग से ही विषयों का सेवन करती है। यह प्रक्रिया चलती रहती है।

हम सभी लोग इन्द्रियों के सुख में आबद्ध हो जाते हैं और इन्द्रिय सुखों में तृप्ति का अनुभव करते हैं। चूंकि इन्द्रियों द्वारा भी सांसारिक भोगों और विषयों का सेवन होता है उनमें तृप्ति नहीं हो सकती है। क्षणिक तृप्ति का आभास हो सकता है। चूंकि तृप्ति क्षणिक होती है। इस कारण तृप्ति के समाप्त होने पर हम पुनः अपने को अतृप्त आभास करते है और फिर से उस विषय की ओर जाना चाहते हैं। जैसे हमें भूख का आभास होता है तो हम भूख और प्यास की तृप्ति तथा निवृत्ति के लिए भोजन और जल ग्रहण कर लेते हैं। भूख प्यास की निवृत्ति अर्थात् तृप्ति हो जाती है परन्तु कुछ समय पश्चात् हमें पुनः उसका आभास होता है और हम पुनः भूख प्यास की निवृत्ति हेतु भोजन पाने की व्यवस्था करते हैं। यह क्रम चलता रहता है। न तो भूख प्यास की पूर्ण निवृत्ति होती है और न ही तृप्ति होती है। यही स्थिति इन्द्रियों के विषयों की उनकी भी उनके विषयों से पूर्ण तृप्ति नहीं होती है और इसी कारण पुनः पुनः मनुष्य विषयों में प्रवृत्त होता है।

सामान्य रूप से सामान्य मनुष्य जीवनपर्यन्त इन्द्रियों के भोगों में अतृप्ति का आभास करता है। इस अतृप्ति की तृप्ति हेतु वह निरन्तर प्रयत्नशील होता है। यही जीवन की बाध्यता है। इसी को बंधन कहा जाता है। मुक्तयोगी इन्द्रियों के विषयों पर नियंत्रण स्थापित कर लेता है। वह न तो मधुर संगीत की ओर आकृष्ट होता है और न ही मधुर गीत के भावों पर उसका ध्यान जाता है। वह सुन्दर दृश्यों को भी देखने का आकांक्षी नहीं होता है। सुस्वाद भोजन में उसकी वृत्ति समाप्त हो जाती है। नासिका से सुगन्ध का संयोग होने पर भी उसमें कोई हलचल नहीं होती है। कोमल स्पर्श का उसे आभास नहीं होता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी उसकी रूचि पूर्णरूपेण समाप्त हो जाती है। इन्द्रियों के विषयों का संयोग होने पर किसी प्रकार की आंतरिक तथा बाह्य क्रियाओं में परिवर्तन न होना इन्द्रियों का संयम कहा जाता है। मुक्तयोगी इस संयम को प्राप्त कर लेता है। इस संयम को प्राप्त करने को ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होना कहते हैं। मुक्तयोगी को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। उसकी इन्द्रियां संयमित हो जाती हैं और

इन्द्रिय विषयों को ग्रहण नहीं करती हैं तथा विषयों का संयोग होने पर उसमें प्रवृत्ति भी नहीं होती है।

सामान्यतः हम सब इन्द्रियों तथा उसकी कार्यविधि को नहीं जानते हैं नहीं समझते हैं। इन्द्रियों की विषयों में जो प्रवृत्ति होती है वह सांसारिक वस्तुओं तथा विषयों में प्रियता को देखकर होती है। जैसे सुस्वाद भोजन में प्रियता प्रतीत होती है। संसार में नाना प्रकार के सुस्वाद व्यंजन उपलबध हैं। 6 प्रकार के स्वाद है। इनके रसों में तीव्र और मंद का भी चुनाव होता है। जैसे कोई तीखी मिर्च खाता है और कोई मध्यम श्रेणी की मिर्च खाता है तथा कोई बहुत कम मिर्च खाता है। इसी प्रकार प्रत्येक रस की तीन स्थितियां हो जाती हैं जिन्हें तीव्र, मंद और सामान्य कहा जाता है। रसों के मिश्रण से भी पृथक् प्रकार के रसों की उत्पत्ति हो जाती है। मुक्तयोगी संसार के समस्त रसों का परित्याग करके रसो से मुक्त हो जाता है तथा वह संसार के विषयों को निरपेक्ष भाव से उदासीनवत् रहकर देखा करता है। उसकी सांसारिक भोगों से सर्वप्रकारेण विस्मृति हो जाती है। इसलिए मुक्तयोगी को इन्द्रियों पर नियंत्रण रहता है और वह इन्द्रियजयी हो जाता है।

(पांच) मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण के टुकड़े को समान समझता है :–

मिट्टी का टुकड़ा मूल्यविहीन होता है, पत्थर का टुकड़ा तुच्छ मूल्य वाला होता है और सोने का टुकड़ा बहुमूल्य होता है। सामान्य रूप से सभी लोग प्रत्येक के मूल्य की स्थिति को समझते हैं। जगत में मूल्यवान वस्तुओं की चाहत रहती है तथा प्रत्येक व्यक्ति इसके अंतर को समझता है। स्वर्ण के टुकड़े को प्रत्येक व्यक्ति लेने की इच्छा करता है परन्तु मुक्तयोगी की दृष्टि में तीनों प्रकार के टुकड़ों का मूल्य एक समान हो जाता है। यह एक प्रकार की विशेष स्थिति है जो सहजता से प्राप्त होना संभव नहीं है। जगत में सभी लोग मूल्यवान वस्तुओं को चाहते हैं। मूल्य विहीन वस्तुओं को कोई नहीं चाहता है। जैसे एक गरीब व्यक्ति है तथा दूसरा धनवान है तो प्रत्येक मनुष्य गरीब व्यक्ति से अपना सम्बंध रखने की इच्छा नहीं करेगा और धनवान व्यक्ति से सम्बंध रखना चाहेंगा। इसका एक कारण है कि धनवान के पास रहकर हमें कुछ लाभ हो सकता है और गरीब से सम्पर्क रखने पर हमारा नुकसान ही होगा। गरीब से लाभ की आशा नहीं है। इसका कारण है कि हम उससे सम्पर्क नहीं रखना चाहतें तथा उसे सम्मान भी नहीं देते। इसके प्रतिकूल प्रत्येक व्यक्ति धनवान से सम्बंध रखने का इच्छुक होता है क्योंकि उससे हमें लाभ की आशा होती है। मुक्तयोगी गरीब और धनवान के प्रति एक ही भाव रखता है, इसलिए वह विशिष्ट है।

मनुष्य जीवनपर्यन्त मूल्यवान वस्तुओं को एकत्र करता रहता है। इस कार्य में वह अपने जीवन का अधिकांश समय, बुद्धि, शक्ति समाप्त करता है कि हमें किस प्रकार मूल्यवान वस्तुएं प्राप्त हो ? आज के मनुष्य का लक्ष्य ही सांसारिक मूल्यवान वस्तुओं की प्राप्ति की ओर मुड़ चुका है। वह संसार में सर्वत्र फैलना चाहता है तथा अपने उत्पाद को सर्वत्र फैलाने की इच्छा करता है। भांति भांति के उपक्रम, चेष्टाएं इसके लिए की जाती हैं। जीवन में वह अर्थ जितनी तेजी से प्राप्त करने का उपक्रम करता है, वह उतना ही व्यस्त हो जाता है और तेजी से अर्थ के संग्रह में लगा रहता है। यह स्थिति जीवनपर्यन्त रहती है। मनुष्य अपने जीवन में अर्थ उत्पन्न करने, प्राप्त करने, संग्रह करने को ही जीवन का परम उद्देश्य मानता है। इस स्थिति में मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य से भटकता है क्योंकि जितना अर्थ संग्रहीत होगा उतनी अधिक मात्रा में हम संसार की भोग वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। पुरानी वस्तुऐं, कम मूल्यवान वाली वस्तुएं मूल्यहीन होती जाऐगी और नई मूल्यवान वस्तुएं एकत्र होती जायेंगी। यह जीवन का भटकाव है। मनुष्य का अपने वास्तविक लक्ष्य से विमुख होना है।

एक योगी अर्थ को मूल्यहीन समझता है, क्योंकि उसके जीवन का लक्ष्य अर्थ प्राप्ति नहीं होता है। उसके जीवन का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति होता है। उसको संसार तथा संसार की वस्तुएं मूल्यहीन प्रतीत होती हैं। मुक्तयोगी परमात्मा को मूल्यवान समझता है और एक सांसारिक व्यक्ति अपने उद्देश्य को संसार में स्थापित करता है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में वह परमात्मा से दूर चला जाता है। उसे परमात्मा से विस्मृति हो जाती है। इस कारण संसार की मूल्यवान वस्तुओं को महत्व देता है। मुक्तयोगी का संसार विस्मृत हो जाता है, इस कारण उसे संसार की मूल्यवान वस्तुऐं मूल्यहीन मिट्टी के समान प्रतीत होती हैं। संसारी व्यक्ति को परमात्मा मूल्यहीन लगता है। मुक्तयोगी संसार को भूलता है और संसारी मनुष्य परमात्मा को भूलता है। इसलिए मुक्तयोगी को संसार में मिट्टी के टुकड़े में, पत्थर के टुकड़े में तथा सोने के टुकड़े में समानता प्रतीत होती है।

मुक्तयोगी इस प्रकार अपने अंतःकरण में परमात्मा के ज्ञान से तृप्त रहता है। परमात्मा के स्वरूप में डूबा रहता है और वह परमात्मा प्राप्ति के समस्त उपायों को जानता है। यह योगी की विशेष स्थिति होती है। संसार के अनेक झंझावातों से पृथक् संसार के किसी परिवर्तन के प्रभाव से मुक्त वह मुक्तयोगी अपनी इन्द्रियों के समस्त विषयों को ग्रहण ही नहीं करता है। उसके लिए संसार के समस्त विषय शून्यवत् हो जाते हैं। संसार के विषय में जब तक मनुष्य की ललक रहती है तब तक संसार की वस्तुओं के मूल्य के अंतर

को जानता है। संसार की वस्तुऐं जब मूल्य विहीन हो जाती हैं तो अनायास ही मनुष्य के मन में परमात्मा के ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसकी संसार से दृष्टि हटकर परमात्मा में समाहित हो जाती है। यह योगी की विशिष्ट स्थिति है, जिसे मुक्तयोगी कहते हैं।

2– परमयोगी की स्थिति :– जगत के समस्त जीवों को अपने समान समझना परमयोग है तथा जो साधक जगत के समस्त जीवों के अपने सदृश समझता है, वही परमयोगी कहलाता है। अपने समान ही अन्य जीवों को समझना परमयोगी की विशिष्टता है। सादृश्यता को समझने के लिए परमात्मा की जीव से सादृश्यता को समझना पड़ेगा तथा विशेष कर परमात्मा की मनुष्य को पृथक्–पृथक् प्रकार की वस्तुओं का प्रतिदान करना, परमात्मा की जीव से सादृश्यता है। एक पिता अपने पुत्र को अपने समान सुविधाएं देना चाहता है। वह अपने पुत्र के कष्ट को अपना कष्ट समझता है। जब शिशु रोता है तो रोने का कारण अज्ञात होने पर भी माता–पिता शिशु के रोने पर शिशु की तरह दुखी होते हैं। यह सादृश्यता का स्वरूप है। शिशु के दुख को अपना दुख समझना तथा उसके रोने को लेकर स्वयं भी दुखी हो जाना और उसके रोने के समापन का प्रयास करना यह सब सादृश्यता ही है। शिशु को गोद में उठाकर खिलाते हैं, पुचकारते हैं तथा मल–मूत्र करने पर भी कुछ प्रतिकूल अनुभव नहीं करते हैं। यह भी सादृश्यता का उदाहरण है। हम शिशु के दुखी होने पर दुखी क्यों होते हैं? क्योंकि वह हमारा पुत्र है और उससे हमारा संबंध है। यदि किसी शिशु से हमारा संबंध नहीं होता है तो हम उसके दुखी होने पर, रोने पर कदापि दुखी नहीं होते हैं, पर हमें वैसे ही दुखी होना चाहिए जैसे हम अपने पुत्र के दुखी होने पर दुखी हुए थे तो यह परमयोगी की सादृश्यता है। परमयोगी प्राणी मात्र के दुखी होने पर उसके दुख का आभास करता है तथा अपने जैसे दुख की प्रतीति उसे होती है। इस संबंध में परमात्मा की मनुष्य से सादृश्यता को समझना पड़ेगा।

(क) परमात्मा तथा मनुष्य की सादृश्यता :–

परमात्मा तथा मनुष्य की सादृश्यता पर हमें विचार करना चाहिए। परमात्मा ने मनुष्य को अपने समान ही सुविधाएं प्रदान की हैं। उन्होंने अपने स्वरूप को ही आत्मा के रूप में मनुष्य में प्रविष्ट करा दिया है। परमात्मा द्वारा मनुष्य को सुविधाएं प्रदान की गयीं हैं। जो सुविधाएं परमात्मा ने जीव मात्र को दी हैं वैसी सादृश्यता अन्यत्र प्रतीत नहीं होती। इस कारण ईश्वर में भी परम शब्द का प्रयोग हुआ है तथा योगी में भी परम शब्द को प्रयुक्त किया गया है। परमात्मा ने मनुष्य को अपनी सादृश्यता कैसे प्रदान की है? इस पर विचार किया जा रहा है–

(एक) प्रकृति का निर्माण– शास्त्रों में प्रकृति को अनादि कहा जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि प्रकृति का आदि नहीं है। यह शास्त्रीय तथ्य है जिस पर हम अधिक विचार नहीं कर सकते। प्रकृति का जब भी निर्माण हुआ होगा तो वह परमात्मा के द्वारा ही हुआ होगा। अर्थात् परमात्मा ने अपनी शक्ति व सामर्थ्य से प्रकृति का निर्माण किया तथा उसे विश्व की रचना हेतु आदेशित किया। प्रकृति ने अनेक प्रकार की सृष्टि के निर्माण की क्षमता है तथा प्रकृति में ही सूर्य, चन्द्र, तारे तथा अन्य ग्रहों का निर्माण किया है और पृथ्वी पर जो समुद्र, पर्वत पहाड, वन, नदिया, झीलें हमें दिखाई पड़ती हैं वे सब प्रकृति के द्वारा ही निर्मित हैं। इनके निर्माण का एक ही उद्देश्य है कि मनुष्य इनसे अपनी सुख–सुविधाओं का उपभोग करे। परमात्मा यदि प्रकृति का निर्माण न करता तो हम पृथ्वी पर समुद्र, पर्वत, पहाड, वन, नदियां, झीलें आदि नहीं देख पाते। अर्थात् उनका अस्तित्त्व नहीं होता। इस प्रकार परमात्मा ने प्रकृति का निर्माण करके प्रकृति को मानव की सुख–सुविधाओं के लिए अनेक प्रकार के निर्माण की व्यवस्था की है। यह परमात्मा की मानव के प्रति सादृश्यता है।

(दो) अपने अंश का मानव को दान– जैसे एक धनवान मनुष्य के पास बहुत संपदा, धन, ऐश्वर्य आदि हो और वह उसका उपयोग करता हो, यदि वह किसी को अपने सादृश्य बनाना चाहेगा तो अपने समान ही धन, संपति, ऐश्वर्य सुविधाओं की व्यवस्था उसके लिए करनी पड़ेगी तब जाकर दूसरा व्यक्ति उस धनवान के समान हो पाएगा। परमात्मा ने जीवों पर दया करके अपने अंश को उसमें प्रविष्ट करा दिया तथा आत्मा के स्वरूप में उसे मानव को प्रदान किया। यदि परमात्मा अपना अंश जीव मानव को न देता तो उसमें चेतनता नहीं आ पाती। वह शरीर प्राप्त करके भी निर्जीव रहता। गति तथा चेष्टा का उसमें अभाव हो जाता। परमात्मा का अंश जीव मनुष्य में वृद्धि, गति, चेतनता, चेष्टा आदि का आधार है। परमात्मा ने अपना अंश मानव को उसी प्रकार दिया है जिस प्रकार हम अपना रक्त अथवा शरीर का कोई अंग किसी बीमार व्यक्ति को उसके स्वास्थ्य लाभ हेतु प्रदान करते हैं। अपने शरीर का रक्त तथा किसी अंग का दान करना बहुत उच्च श्रेणी की सादृश्यता है। परमात्मा ने अपने स्वरूप में जीव को प्रकट किया और उसे प्राणी मात्र को प्रदान किया। इसे भी उच्च कोटि की सादृश्यता समझना चाहिए। परमयोगी भी इसी प्रकार की सादृश्यता के निकट पहुंच जाता है। वह अपनी अत्यंत प्रिय वस्तु को भी दूसरों को देने में संकोच नहीं करता है।

(तीन) पंच महाभूतों की व्यवस्था– परमात्मा ने मानव के लिए पंच महाभूतों अर्थात् आकाश, अग्नि, जल, वायु व पृथ्वी की व्यवस्था मानव मात्र के लिए की है। एक तो यह पंच महाभूत ही मानव शरीर के निर्माण के आधारभूत तत्त्व हैं तथा इन तत्त्वों से मानव जीवन की

आवश्यकता की पूर्ति होती है। वायु हमें प्राण वायु के रूप में जीवन प्रदान करती है। अग्नि हमारे शरीर के तापक्रम को बनाए रखती है। जल हमारे जीवन का आधार है तथा आकाश से मानव जीवन की समस्त चेष्टाऐं संभव हो पाती हैं और पृथ्वी हमारा आधार है। जैसे हम अपने परिवारीजनों के लिए तथा किसी विशिष्ट अतिथि के लिए नाना प्रकार की व्यवस्थाऐं करते हैं। सुस्वाद भोजन, रहने, लेटने, बैठने के लिए वातानुकूलित स्थान और मनोरंजन के साधन आदि की व्यवस्था करते हैं। वैसे ही परमात्मा ने हमारे लिए पंचमहाभूतों की रचना की है तथा विभिन्न प्रकार की जीवनोपयोगी वस्तुएं उपलब्ध कराई हैं। यह परमात्मा द्वारा मानव के लिए उपलब्ध सुविधाओं का स्वरूप मानव की परमात्मा से सादृश्यता का एक रूप है। जैसी व्यवस्था परमात्मा ने अपने लिए की है वैसी समस्त मानव जाति के लिए की है। इसलिए वह परमात्मा अपने सदृश ही मानव को समझता है।

(चार) अंतःकरण की व्यवस्था– परमात्मा ब्रह्माण्ड के बारे में, सृष्टि के बारे में विचार कर सकता है तथा उसके समस्त निर्माण के बारे में विनिश्चय भी कर सकता है। परमात्मा ने वैसे ही प्रकार की शक्ति मानव को प्रदान की है तथा मन और बुद्धि के स्वरूप में विचार करने और विनिश्चिय करने की विशेष शक्ति परमात्मा के द्वारा मनुष्य को प्रदान की गयी है। परमात्मा जैसा विचार कर सकता है और विनिश्चय कर सकता है वैसा तो मानव नहीं कर सकता परंतु उसके सदृश अनेक विषयों पर वह विचार कर सकता है तथा उसका विनिश्चय भी कर सकता है। मनुष्य ने विचार शक्ति तथा विनिश्चय की शक्ति के द्वारा ही इस संसार में हमारे समक्ष वैज्ञानिक यंत्रों को मूर्तरूप प्रदान किया गया है। यदि मनुष्य में विचार शक्ति और विनिश्चिय की शक्ति के रूप में मन तथा बुद्धि परमात्मा के द्वारा प्रदान नहीं की जाती तो वह न तो कुछ विचार कर पाता और न ही कुछ निर्माण कर पाता। इस प्रकार परमात्मा ने अपनी विचार शक्ति को तथा विनिश्चिय शक्ति को मनुष्य को देकर अपनी सादृश्यता प्रदान की है। मनुष्य की विचार शक्ति के रूप में जो मन है तथा विनिश्चिय शक्ति के रूप में जो बुद्धि है वह परमात्मा का मानव के लिए विशिष्ट प्रतिदान है। इस प्रकार परमात्मा ने मनुष्य को मन और बुद्धि के रूप में सादृश्यता प्रदान की है।

(पांच) बाह्यकरण की व्यवस्था :–

बाह्यकरण में इन्द्रियों का समुदाय आता है। इन्द्रियों के समुदाय की संख्या दस है जिनका वर्णन पूर्व में भी हो चुका है। यह दस इन्द्रियां कान, आंख, जिह्वा, नासिका, त्वचा, वाणी, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ के रूप में है। परमात्मा ने मनुष्य को बाह्यकरण प्रदान करके अपनी सादृश्यता दी है। परमात्मा जगत के समस्त मनुष्यों की प्रार्थना को सुनता है।

चाहें वह प्रार्थना किसी भाषा में क्यों न हो। परमात्मा ने अपनी सादृश्यता हेतु मानव को कान प्रदान किए हैं। परमात्मा अव्यक्त रहकर, अदृश्य रहकर भी प्रकाश तथा अंधकार, गुप्त और प्रकट सभी कुछ देख लेता है। ऐसी सादृश्यता के लिए परमात्मा ने मनुष्य को आंखें प्रदान की हैं ताकि वह बहुत कुछ देख सके। परमात्मा जगत के समस्त रसों का उत्पत्ति कर्ता तथा भोक्ता भी है। इस कारण अनेक प्रकार के रसों के उपभोग के लिए उसने मनुष्य को जिह्वा प्रदान की है जिससे मनुष्य अनेक प्रकार के रसों का उपभोग करता है।

परमात्मा ने जगत में पृथक्–पृथक् पुष्पों में विभिन्न प्रकार की गंधों का समावेश कर दिया है तथा उसी की सादृश्यता हेतु परमात्मा ने मनुष्य को नासिका प्रदान की है जिससे वह पृथक्–पृथक् प्रकार की गंधों को ग्रहण कर लेता है। परमात्मा समस्त प्रकार की संवेदनाओं को ग्रहण कर सकता है। इसी के सापेक्ष उसने मनुष्य को त्वचा प्रदान की है जिससे मनुष्य शीत, उष्ण, कठोर और मुलायम वस्तुओं का बोध कर लेता है। यह भी एक प्रकार की सादृश्यता है। परमात्मा ने प्रकृति के रूप में विभिन्न प्रकार की ध्वनियां प्रकट की हैं। बादल के गरजने, बिजली के कड़कड़ाने, बरसात के होने, वायु के सामान्य और तेज चलने की पृथक्–पृथक् ध्वनियां हैं। उसकी सादृश्यता हेतु परमात्मा ने मनुष्य को वाणी प्रदान की है। परमात्मा सर्वत्र विचर सकता है। इसी भाव की सादृश्यता हेतु उसने मनुष्य को पैर प्रदान किए हैं। परमात्मा ने जगत की रचना की है तथा मनुष्य भी कुछ रचना करे इसके लिए उसने मनुष्य को हाथ प्रदान किए हैं। परमात्मा ने समस्त जगत की सृष्टि की है। उसी के लिए उसने प्राणीमात्र प्रजनन क्षमता प्रदान की है। इस प्रकार परमात्मा ने मनुष्य को बाह्यकरण प्रदान करके मानव को अपने समान गुणों से संपन्न कर दिया है। यह सादृश्यता का विशिष्ट स्वरूप है।

(ख) परमयोगी की सादृश्यता :–

परमयोगी अपने समान ही अन्य प्राणियों को भी समझता है, क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक जीव एकमात्र परमात्मा के अंश से ही चेतन है इस कारण परमात्मा का अंश होने से सभी जीव सहधर्मी हैं। जिस जीवात्मा ने कीट, पशु–पक्षी, जलचर–नभचर आदि समस्त जीवों को चेतन किया है और हम भी चेतन हैं। वही जीव सभी में एकसमान रूप से है। परमात्मा के अंशों के आधार पर जीवों में सहधर्मिता है और सादृश्यता भी है। हम सभी एक ही पिता की संतान हैं। परमयोगी यह तथ्य जानकर उसे अपने व्यवहार में उतार लेता है। हम सब जानकर भी वैसा व्यवहार नहीं कर पाते हैं। एक सामान्य व्यक्ति और परमयोगी में यही अंतर है। परमयोगी समस्त जीवों में सादृश्यता कैसे करता है? यह विचारणीय तथ्य है। कुछ बिंदु इस सादृश्यता के उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं–

(एक) जैसे हम सभी बीमार–रोगी होते हैं तो वैसे ही अन्य मनुष्य भी होते हैं। जब हम बीमार होते हैं तो अपने लिए उचित औषधियों तथा उचित उपचार की व्यवस्था करते हैं उसी प्रकार परमयोगी भी सबके लिए औषधि की व्यवस्था करना चाहता है। वह बिना किसी स्वार्थ के कार्य करता है, क्योंकि वह एक रोगी मनुष्य की स्थिति को समझता है यह परमयोगी की सादृश्यता है।

(दो) जैसे हम किसी कारणवश दुखी हो जाते हैं क्योंकि समाज में अनेक प्रकार की समस्याऐं हैं। इस कारण स्वयं की समस्याओं से दुखी होना स्वाभाविक है। एक परमयोगी अपने दुखों के सदृश ही अन्य लोगों के दुखों को समझता है तथा उसी प्रकार निवारण का प्रयास करता है। जैसे वह अपने दुखों के निवारण हेतु करता है। यह परमयोगी की स्थिति है कि वह दूसरों के दुखों को अपने समान समझता है।

(तीन) जैसे हमें चोट लग जाती है तो हमें पीड़ा होती है वैसी ही पीड़ा जानवरों–पशुओं को भी होती होगी। इस कारण हम अपनी पीड़ा के समान पशुओं की पीड़ा का आभास और अनुभव भी करें तथा वैसे ही उपाय करें जो अपनी पीड़ा के निवारण हेतु करते हैं। यदि हम ऐसा कर सकें तो हम निश्चित ही परमयोगी हैं। यह परमयोगी की सादृश्यता है कि वह अपने शरीर की पीड़ा का आभास करता है। वैसे ही दूसरों के शरीर की पीड़ा को देखता है।

(चार) एक गरीब मनुष्य झोपड़ी में रहता है जहां पर जीवन की मूलभूत अनिवार्य आवश्यकताएं भी उपलब्ध नहीं होती हैं। एक धनवान मनुष्य समस्त प्रकार की सुविधाओं में जीवित रहता है यह अंतर हम आज के समाज में देख सकते हैं। एक धनवान की सुविधाओं की तरह ही गरीबों को भी सुविधाएं दिलाने का जो प्रयास करता है वह परमयोगी है। यही परमयोगी की विशिष्ट गुण है।

(पांच) चर और अचर जीवों में परमात्मा का वास है तथा सभी का निर्माण प्रकृति के द्वारा परमात्मा के आदेश पर किया गया है। इस कारण भी सभी में सहधर्मिता है। पेड़ पौधों में परमात्मा बसता है और समस्त जीवों में भी रहता है। परमयोगी इसी तथ्य को समझकर, पेड़ पौधों को चेतन मानकर उन्हें भी काटता पीटता नहीं है। उसे आभास रहता है कि जैसे एक मनुष्य की अंगों के काटने पर मनुष्य को पीड़ा होती है उसी प्रकार पेड़ पौधों की शाखाओं को काटने पर उन्हें भी पीड़ा होती होगी। इसका आभास रहना ही परमयोगी का विशेष लक्षण है। यही उसकी सादृश्यता है।

(छह) अपने संबंधी, संपर्कित लोगों तथा परिवारीजनों के समान ही अन्य लोगों की सेवा, सहायता करना परमयोगी का विशेष लक्षण है उसे अपनों में तथा अन्य लोगों में किसी प्रकार के अंतर की प्रतीति नहीं होती है। वह सभी को एक समान मानता है, समझता है, व्यवहार करता है। यही परमयोगी का विशिष्ट गुण और उसकी सादृश्यता है।

(सात) परमयोगी की विशिष्टता है कि वह अपने सदृश अन्य मनुष्यों को, समग्र जीवों को मानकर वैसा ही व्यवहार करता है यह तथ्य मात्र विचार की वस्तु नहीं है वरन् वह क्रियान्वित होती है और व्यवहार में प्रकट होती है। विचार में मानना भावनाप्रद है तथा क्रियान्वयन में आना उससे भी विशिष्ट है, क्योंकि उससे कर्म का प्रकटीकरण होता है।

(आठ) परमयोगी योगी की एक विशिष्ट और विलक्षण स्थिति है। इसे शीघ्रता से प्राप्त किया जा पाना संभव नहीं होता है, क्योंकि हमारे पास जो कुछ भी होता है वह दूसरों की सेवा में स्वतः ही अर्पित होने लगता है। परमयोगी को भूखों के भोजन की चिंता रहती है। वह भोजन के पूर्व यह देखता है कि हमारे आसपास कोई अन्य जीव, प्राणी भूखा या दुखी तो नहीं है यदि है तो वह पहले उस भूखे और दुखी के भोजन की व्यवस्था करता है और पश्चात् में अपने भूख, कष्ट के निवारण का उपाय ढूंढता है। इस प्रकार परमयोगी की स्थिति विशिष्ट है जो शीघ्रता से प्राप्त किया जा पाना संभव नहीं है। इस स्थिति का प्रमुख लक्षण है स्वार्थपरता का समूलता से विनाश हो जाना । जब तक मन में स्वार्थी भावना रहती है तब तक इस स्थिति को प्राप्त किया जा पाना संभव नहीं है।

(ग) परमयोगी की विशिष्ट प्रस्तुति :–

वर्तमान समाज में अनेक धनपति, व्यवसायी तथा उद्योगपति मनुष्य हैं। इनके पास असंख्य धन है। संभवतः उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता है कि उनके पास कितना धन और कितनी संपति है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में जो विशिष्ट महानुभाव कार्य कर रहे हैं उन्हें भी श्रद्धावान मनुष्य बहुत अधिक मात्रा में दान आदि देते हैं जिससे उनकी आर्थिक स्थिति बहुत संपन्न हो जाती है। ऐसे आध्यात्मिक महापुरुषों को भी यह ज्ञात नहीं रहता कि हमारे पास कितना धन और कितनी संपति है?

आपने अनुभव किया होगा कि बहुत धन और संपति को रखने वाले मनुष्य गरीबों के द्वारा जो भीख आदि मांगी जाती है वे उसे कुछ पैसे देना भी उचित नहीं समझते हैं तथा दुत्कार कर भगा देते हैं और भांति–भांति के व्यंग्यात्मक वचन कहते हैं। कुछ वैसी ही स्थिति आज के अनेक धन से संपन्न आध्यात्मिक महानुभावों की देखी जा सकती है। वे

गरीबों की सहायता के लिए कुछ कार्य अपने प्रचार के लिए करते प्रतीत होते हैं परंतु उनमें धन और संपदा के एकत्रीकरण के प्रति इतना मोह रहता है कि वह उनके व्यवहार में भी प्रकट हो जाता है। उनका प्रतिदिन का व्यवहार रहन सहन तथा अनेक प्रकार की दंभाचरण पूर्ण चेष्टाएं प्रकट होती हैं। ऐसे मनुष्यों को यदि योगी कहा जाए तो यह योगी शब्द का अनादर ही होगा। वस्तुतः योगी वही है जो अपने पास उपलब्ध धन और संपदा का दूसरों के हितार्थ प्रयोग करने के लिए उत्सुक रहता है। वह कदापि–कदापि योगी नहीं है जो धन के संकलन के बारे में नाना प्रकार के उपक्रम करता है और भांति–भांति की संसारिक चेष्टाऐं करके अपने को संसार में प्रसिद्ध करना चाहता है।

योगी से परमयोगी अत्यंत उच्च श्रेणी का आध्यात्मिक मनुष्य है। जैसे पेड़ में फल पकने पर वह नीचे की ओर स्वतः ही झुक जाता है और अपने पके हुए फलों को दूसरों के हितार्थ देने को उत्सुक होता है। एक फल से लदे हुए वृक्ष का नीचे की ओर झुक जाना इसी बात का संकेत है कि वह अपने फलों को समाज के हितार्थ देने को तत्पर है। ऐसी ही स्थिति एक परमयोगी मनुष्य की हो जाती है उसे अपने पास जो कुछ प्रतीत होता है अथवा समाज से जो कुछ सहायता प्राप्त हो जाती है वह सब की सब मानव समाज के हितार्थ लगाने के लिए तत्पर रहता है और उत्सुकता से यह प्रतीक्षा करता है कि कब ऐसा अवसर आए कि हम दूसरों के काम आ सकें और गरीब असहाय, बेसहारा, निर्बल, निर्धन लोगों की सहायता कर सकें। यह उत्सुकता और तत्परता ही परमयोगी का विशिष्ट लक्षण है जिस मनुष्य को संसार में अपना कुछ भी प्रतीत न हो अर्थात् स्वामित्व के भाव का अभाव हो जाए उस मनुष्य को वस्तुतः परमयोगी मानना चाहिए। यही परमयोगी की सादृश्यता है।

3– सर्वश्रेष्ठ योगी की चार स्थितियां :–

योगियों में उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, योगी को सर्वश्रेष्ठ योगी कहा जाता है। उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ योगी में चार विशेष लक्षण होते हैं। 1–परमात्मा में अतिशय श्रद्धा का होना 2–परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेना 3–परमात्मा में एकाग्रचित्त हो जाना 4–परमात्मा का अनन्य चिंतन करना। उक्त चारों स्थितियां जिस साधक में सम्पूर्णता से आ जाती हैं उसे सर्वश्रेष्ठ योगी कहते हैं।

(क) परमात्मा में अतिशय श्रद्धा का होना :–

परमात्मा के प्रति श्रद्धा का भाव सहजता से नहीं आता है। अतिशय श्रद्धा, श्रद्धा से भी उत्कृष्ट कोटि की है। अर्थात् अत्यंत श्रेष्ठ है। परमात्मा में अतिशय श्रद्धा का उपासक मनुष्य अत्यंत श्रेष्ठ हो जाता है और उसमें आस्तिकता का भाव प्रबल होता है। कतिपय कारणों से श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति उसकी श्रद्धा के अनुरूप होती है। पहले श्रद्धा के स्वरूप तथा उसके प्रकार को हमें जानना चाहिए तत्पश्चात् श्रद्धा और अतिशय श्रद्धा पर चिंतन करना चाहिए। यही श्रद्धा पर विचार का क्रम है।

(एक) श्रद्धा क्या है ?

संसार में मनुष्य पृथक्–पृथक् प्रकार के होते हैं। यह पृथक्–पृथक् प्रकार के मनुष्यों का होना उनकी प्रकृति पर आधारित होता है। जैसे मनुष्य जिस समाज में रहता है वहां पर पारिवारिक, सामाजिक, सम्पर्कित लोगों के व्यवहार को देखता है और उस व्यवहार को देखकर वैसा ही आचरण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार जो आचरण का भाव है और यह भाव जिस कारण होता है उसे श्रद्धा का रूप मानना चाहिए। चूंकि आचरण देख कर हो रहा है श्रेष्ठजनों के द्वारा जो आचरित है उसके आधार पर हो रहा है इसलिए वैसा ही भाव मनुष्य के अंदर स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

जैसे एक मनुष्य अन्य लोगों को भगवान शंकर की उपासना करते हुए देखता है तो उसके मन भी भगवान शंकर के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह भी भगवान शंकर की उपासना करने लगता है। इसी प्रकार जब एक बालक युवा हो जाता है तो वह अपने आस पास के वृहद समाज को देखता है और अध्ययन भी करता है। वृहद समाज में यदि कोई पूजा उपासना करता है तो वह भी उसकी देखा देखी पूजा उपासना का उपक्रम करता है। जैसे कोई माता दुर्गा की उपासना करता है तो हमारे मन में भी माता दुर्गा की उपासना करने का भाव उत्पन्न हो जाता है। यह माता दुर्गा के प्रति जो उपासना का भाव है यह भी एक प्रकार की श्रद्धा रूप है। अनेक युवकों को आपने तांत्रिक उपासना का अनुष्ठान करते हुए देखा होगा, क्योंकि वह इसमें विश्वास रखते हैं। यह विश्वास का जो रखना है इसे ही श्रद्धा का प्रतिरूप मानना चाहिए। इस प्रकार जो जैसी श्रद्धा वाला है वह मनुष्य वैसा ही होता है और वैसा ही प्रतीत भी होता है। उसकी आंतरिक चेष्टाऐं आतंरिक श्रद्धा के रूप में रहती है और यही आन्तरिक श्रद्धा अनेक प्रकार की सांसारिक क्रियाओं के रूप में प्रकट हो जाती हैं। प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रकार श्रद्धा एक भाव है जो मनुष्य के

अंतःकरण में रहता है और इस भाव के उद्‌भव होने के अनेक कारण हैं। श्रद्धा के सम्बंध में हमें गीता ज्ञान के 19वें खण्ड का अध्ययन करना चाहिए।

(दो) श्रद्धा के तीन प्रकार :–

श्रद्धा के तीन प्रकारों का उल्लेख श्री गीता जी में आता है। इन तीन प्रकार की श्रद्धा को सात्त्विक श्रद्धा, राजसी श्रद्धा और तामसी श्रद्धा कहा जाता है। इस प्रकार मनुष्य तीन प्रकार के होते है। एक प्रकार के मनुष्य सात्त्विक श्रद्धा वाले होते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्य राजसी श्रद्धा वाले होते हैं और तीसरे प्रकार के मनुष्य तामसी श्रद्धा वाले होते हैं। सात्त्विक श्रद्धा से आवृत मनुष्य संसार में अनेक प्रकार के देवी देवताओं की उपासना करता है, क्योंकि उसकी श्रद्धा देवी देवताओं के प्रति होती है। वह जिन कारणों से देवी देवताओं की उपासना की ओर आकृष्ट होता है, वह कारण सात्त्विक श्रद्धा ही है। राजसी श्रद्धा से आवृत मनुष्य यक्ष और राक्षसों को पूजता है। यह यक्ष और राक्षसों की पूजा उपासना राजसी श्रद्धा के कारण होती है। इसी प्रकार तामसी श्रद्धा से जो मनुष्य आवृत होते हैं वह भूत प्रेतों की उपासना करते हैं। यह उपासना निकृष्ट श्रेणी की मानी जाती है। इस प्रकार श्रद्धा के तीन प्रकारों का उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त होता है तथा अपनी श्रद्धा अनुसार ही प्रत्येक मनुष्य पूजा उपासना आदि करता है।

(तीन) परमात्मा में श्रद्धा :–सात्त्विक श्रद्धायुक्त मनुष्य ही जब देवी देवताओं का यजन पूजन निष्काम भाव से करता है तो वह परमात्मा की व्यवस्था की ओर भी उन्मुख होता है। सात्त्विक श्रद्धायुक्त मनुष्य जब यह जान जाता है कि हम जिन देवी देवताओं की उपासना कर रहे हैं उस देवी देवता की उत्पत्ति का कारण परमात्मा ही है। इस कारण परमात्मा की पूजा करना यथेष्ट है और उससे हमें समुचित फल भी प्राप्त हो जाएगा। यह विचार उसको देवी देवताओं की उपासना के साथ परमात्मा की ओर भी आकृष्ट करता है। यह सात्त्विक श्रद्धा के कारण ही होता है। परन्तु यह परमात्मा की उपासना की ओर उन्मुखता परमात्मा के प्रति श्रद्धा भाव के कारण उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा की आरम्भिक स्थिति है और जब सात्त्विक श्रद्धा सात्त्विक गुण के बढ़ने के साथ और प्रबल होती है तो मनुष्य परमात्मा की उपासना का उपक्रम अनेक प्रकार से करता है। ऐसी स्थिति में देवी देवताओं की उपासना के प्रति निष्काम भाव रहता है। परमात्मा की उपासना के प्रति श्रद्धा का उत्पन्न होना और उसका व्यवहार में आना ही परमात्मा में श्रद्धा का होना कहा जाता है।

(चार) परमात्मा में अतिशय श्रद्धा :–

सात्त्विक गुणों की वृद्धि के कारण परमात्मा में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा धीरे–धीरे साधक की साधना पर, प्रयास से बढ़ती जाती है जैसे हम संसार में किसी वस्तु या व्यक्ति से किसी कारण स्नेह करते हैं तो आरम्भ में यह स्नेह कम रहता है। धीरे–धीरे समय के साथ बढ़ता जाता है तथा स्नेह प्रगाढ़ हो जाता है। समय के साथ स्नेह की प्रगाढ़ता परिपक्वता में परिवर्तित हो जाती है। यह एक सामाजिक उदाहरण है। जब साधक परमात्मा से स्नेह करता है तो उसका स्नेह धीरे–धीरे बढ़ता जाता है। यह चिंतन और स्मरण पर आधारित होता है। परमात्मा की शक्ति, सामर्थ्य, अस्तित्त्व, प्रकृति, गुण, कर्म, प्रभाव, स्वभाव आदि पर जब साधक गहनता से विचार करता है तो वह परमात्मा के प्रति अपने अंतःकरण में अतिशय श्रद्धा का भाव देखता है। ऐसी स्थिति में साधक में परमात्मा के प्रति आकृष्टता बढ़ती है। यह अतिश्रय श्रद्धा के कारण ही होती है।

परमात्मा की ओर आकृष्ट होने से साधक को विशेष अनुभूति होने लगती है। जैसे कोई कार्य करते हैं तो हमें लाभ प्रतीत होने पर उस कार्य के प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है और हम पूरी शक्ति से उस कार्य में जुट जाते हैं। इसी प्रकार साधक जब परमात्मा की ओर आकृष्ट होता है तो परमात्मा उसके अंतःकरण में एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति प्रकट कर देता है। यह स्फूर्ति अंतःकरण में श्रद्धा उत्पन्न करती है और यही श्रद्धा धीरे–धीरे प्रगाढ़ होती जाती है। ऐसे साधक को परमात्मा सर्वत्र प्रतीत होता है और उसकी स्थिति की समग्रता से अनुभूति होती है। यह अतिश्रय श्रद्धा का परिणाम होता हैं। अतिशय श्रद्धा का अभिप्राय है कि हम परमात्मा के चिंतन में डूब जाऐ। उसके गुण, प्रभाव, कर्म के चिंतन से आवृत और आच्छादित हो जाऐ। परमात्मा के चिंतन में डूबा हुआ साधक संसार में तो रहता है परन्तु उसका संसार से सम्बंध समाप्त हो जाता है। वह आत्मरत, आत्मसंतुष्ट और आत्मतृप्त होता है। यह अतिशय श्रद्धा वाला साधन सहज साधन के रूप में जानना चाहिए और अतिशय श्रद्धा जिस साधक में प्रकट हो जाती है वह सर्वश्रेष्ठ योगी हो जाता है।

(ख) परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना :–

साधारणतयः हम जिस संसार में रहते हैं उस संसार का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि हमें उस जगत से अनेक प्रकार की अपेक्षाएं रहती हैं। हमने जगत में जगत के लिए कार्य किया है, इस कारण हम उसकी ओर सहारे के लिए देखते हैं। हम जिस परिवार में रहते हैं उस परिवार की सेवा करते हैं। उसके लिए धन एकत्र करने का प्रयास करते हैं और परिवार भी हमें आश्रय प्रदान करता है। वह हमारी सेवा करता है। इस प्रकार

समस्त कर्म जगत के आश्रय से चला करते हैं। हम जब कभी कठिनाइयों, मुसीबत में प्रतिकूल स्थितियों में होते हैं तो भी जगत की ओर जगत के सहारे के लिए देखते हैं। जिन लोगों को हमने आश्रय दिया था वे लोग हमें आश्रय प्रदान करते हैं। जगत के आश्रय का यह कार्य चलता रहता है और हम भी जगत के आश्रय से चलते रहते हैं तथा जगत भी मनुष्य के आश्रय से चलता रहता है। यह एक दूसरे का आश्रय है।

जैसे हम जगत का आश्रय ग्रहण करते है वैसे ही परमात्मा का आश्रय ग्रहण किया जाता है। यद्यपि परमात्मा अव्यक्त है फिर भी वह समस्त संसार का स्वामी है। हम सभी का स्वामी है। वह हमारी समस्त व्यवस्था को देखता है। इस प्रकार हम जगत का आश्रय लेते है वैसे ही परमात्मा का भी आश्रय यदि लेते है तो हमारे सांसारिक कार्य स्वतः ही हो जाते हैं मनुष्य परमात्मा का आश्रय क्यों नहीं ग्रहण करता ? यह विचारणीय प्रश्न है। हमें जो प्रतीत होता है हम उसको शीघ्रता से ग्रहण कर लेते है, क्योंकि उसमें हमें शीघ्र ही सहायता प्रतीत होती है और आश्रय का स्पष्ट आभास लगता है। जो हमें स्पष्ट आभास होता है उसका सहारा हम शीघ्र ही लेते हैं। मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह सामने दिखने वाले का आश्रय लेता है। परमात्मा चूंकि हमें स्पष्ट दीखता नहीं है इस कारण उसका आश्रय हम नहीं लेते हैं। व्यक्त और अव्यक्त ही आश्रय के प्रमुख कारण और आधार हैं। व्यक्त को हम शीघ्रता से ग्रहण कर लेते हैं परन्तु अव्यक्त को हम ग्रहण नही कर पाते हैं।

साधना के उपरान्त मनुष्य परमात्मा की स्थिति, शक्ति, सामर्थ्य को जान जाता है और वह यह भी जान जाता है कि परमात्मा ही समस्त संसार का आश्रय है और उसका रचनाकार भी है। उसके निर्देश पर ही यह सम्पूर्ण जगत चेष्टा कर रहा है तथा पालित पोषित हो रहा है। वह परमात्मा तो अव्यक्त है और वह अव्यक्त रहकर भी व्यक्त की तरह से जगत का पालन पोषण करता है अर्थात् जगत की स्थिति बनाये रखता है। जैसे हम जब एक धनवान मनुष्य के साथ हो जाते हैं और उसके आश्रय में पहुंच जाते हैं तो निश्चिन्त हो जाते हैं कि वह धनवान व्यक्ति हमारा साथ देगा और अवसर आने पर हमारी सहायता करेगा। वैसे ही साधक भी जब परमात्मा की शक्ति, सामर्थ्य को जान लेता है तब वह एक मात्र उसका आश्रय ग्रहण कर लेता है। यह स्थिति कोई सामान्य स्थिति नहीं है क्योंकि हमारी संसार के आश्रय में दृढ़ता है, जिसको हम छोड़ पाने में अपने को असमर्थ अनुभव करते हैं।

जो योगी एक मात्र परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण कर लेते हैं वह पूरी तरह से उसके सहारे रहते हैं। उनका जीवन परमात्मा के आश्रय में चलता है। परमात्मा ने हमें और इस जगत को उत्पन्न किया है और उसके सहारे ही हम वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। वह परमात्मा ही हमारे हृदय में विराजमान है। हमारी समग्र गतिविधि को जानता हैं और हमारा परम सहायक है। यह सब विचार जब साधक के अंतःकरण में प्रबल हो जाता है तब साधक को परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना अच्छा लगता हैं। मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि उसे जहां पर सुख का आभास होता है वहां पर वह टिकना चाहता है, रहना चाहता है। योगी को परमात्मा के आश्रय में सुख का आभास होता है, इस कारण वह परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता है और हम सभी सामान्य रूप से यह नहीं कर पाते हैं। क्या परमात्मा हमें बिना कार्य के ही हमारी सहायता करेगा ? जब ऐसा भाव रहता है तो हमें यह समझना चाहिए कि हमारा परमात्मा के प्रति पूर्ण विश्वास नहीं है, अथवा हमारे विचारों में संशय है। जहां पर संशय रहता है, जब तक दुविधा रहती है, तब तक परमात्मा का आश्रय ग्रहण नहीं होता है। हम जब पूरी तरह से संशय रहित होकर उस परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं तब वह भी साक्षात् प्रकट होकर हमारी सहायता करता है।

सर्वश्रेष्ठ योगी ही परमात्मा का एक मात्र आश्रय ग्रहण करता है। वह जगत की सत्ता को नहीं मानता है और संसार के समस्त आश्रयों का परित्याग कर देता है। उस परमात्मा के साथ की उसके संग की उसको स्पष्ट प्रतीति होती है। इसी के अनुभूति करना करना कहा जाता है। वह परमात्मा को अपने साथ रखता है और परमात्मा के साथ वह रहता है। जगत के साथ का, जगत के सहारे का सर्वप्रकारेण त्याग कर देता है। ऐसा साधक परमात्मा को देखता है और परमात्मा उसे देखता है। परमात्मा के लिए वह अदृश्य और विलुप्त नही होता है और परमात्मा भी उसके लिए अदृश्य और विलुप्त नहीं होता है। इस प्रकार के साधक को परमात्मा ग्रहण कर लेता है और अपना प्रिय सखा, सुहृद बना लेता है और ऐसे साधक को भक्त की श्रेणी स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

(ग) परमात्मा में चित्त का एकाग्र होना :–

हम प्रातः से सायंकाल तक क्या विचार किया करते हैं ? अर्थात् हमारे विचार के क्या विषय हैं ? हमारे विचार के जो भी विषय हैं वह सबके सब सांसारिक रहते हैं। एक युवा व्यक्ति संसार के बारे में बहुत विचार करता है। उसके चित्त के चिंतन का विषय संसार में निहीत रहता है। युवावस्था आते आते हम संसार के प्रति बहुत ही संवेदनशील हो जाते हैं। जगत में क्या हो रहा है ? जगत की क्या गतिविधियां हैं ? जगत में अन्य लोग

कैसे व्यवहार कर रहे हैं? कैसे रह रहे हैं? यह सबका सब विचार चलता रहता है ? हमारी जगत के व्यवहार से अनेक अपेक्षाएं होती हैं ? चूंकि हम भी अपेक्षाएं रखते हैं इस कारण हमसे भी लोग अपेक्षाएं रखते हैं और अपेक्षाएं करते हैं। इसी अपेक्षाओं के क्रम में सब चिंतन चलता है। हमारी अपेक्षाऐं, आकांक्षाऐं लोगों से कैसे पूरी होगी ? और लोगों के हम क्या काम आ सकेंगे ? यह सबका सब हमारे चित्त के चिंतन के विषय हैं।

सामान्य मनुष्य का चित्त संसार में घूमता है और संसार में ही डूबा रहता है तथा संसार का ही चिंतन करता है। संसार के विषयों में रहता है। यह साधारणतयः सभी के चिंतन का क्रम है। यह स्वतः और स्वाभाविक रूप से चला करता है। हम कभी अपने चित्त के चिंतन के विषय में विचार करें। उसके द्वारा विचारे गए विषयों के बारे में सोंचे तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रातः से रात्रि तक हम अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों का चिंतन करते हैं। यह समग्र चिंतन अधिकांशतः हमारी अपनी समस्याओं के बारे में रहता है, जो समस्याऐं तात्कालिक हैं उन पर भी चित्त चिंतन करता है और दीर्घकालीन समस्याओं के बारे में भी चित्त चिंतन करता है। तात्कालिक एवं दीर्घकालिक समस्याऐं जो भी हैं उन सब पर विचार करना हमारे चित्त का प्रमुख विषय रहता है। तात्कालिक एवं दीर्घकालिक समस्याओं के निराकरण के बारे में भी चित्त का विचार चलता है जो समस्याएं हैं वे कैसे हल होंगी ? और उसके लिए हमें क्या प्रयास करना पड़ेगा ? यह सबके सब हमारे चित्त के चिंतन के विषय रहते हैं। हम सब उन्हीं में डूबे रहते हैं यह डूबना संसार में डूबना है ? सामान्य मनुष्य की विचारण शैली यहीं तक सीमित है। वह शीघ्रता से अपने को इससे पृथक् नहीं कर सकता है। हम अपने चिंतन को संसार से कैसे बाहर निकाल सकते है? यह विचार योगी का होता है। साधक ही इस ओर उन्मुख होता हैं। वह प्रयास करता है। संसार के विषयों को कैसे समाप्त किया जाए? संसार के विषय हमारे चिंतन की प्रक्रिया से कैसे बाहर हो? इस पर विचार करना एक साधक और योगी का कार्य है।

परमात्मा की ओर चिंतन होने से संसार में सांसारिक चित्त की चंचलता में कम आती है। उसकी चंचलशीलता कम होती है। चित्त जब अनेक विषयों का चिंतन करता है तब उसे चंचल और प्रमथनशील कहा जाता है। संसार से कभी–कभी कुछ क्षण के लिए चित्त परमात्मा की ओर मुड़ता है तो यह सांसारिक चिंतन का ठहराव कहा जाता है। जैसे जब कोई सुन्दर स्थिति को हम देखते हैं तो हमारी दृष्टि उसकी ओर जाती है। दृष्टि ठहरती है, टिकती है, तो चित्त का ठहराव कुछ समय के लिए होता है। यह स्थिति की सुन्दरता को देखकर होता है। उसी प्रकार संसार के अन्य भोगों में, विषयों में भी चित्त अनायास पहुंच जाता है और कुछ समय के लिए हम उन भोगों और विषयों में ठहरते हैं

यह क्षणिक एकाग्रता है जो प्रसंगवश आ जाती है परन्तु स्वभाव में नहीं होती है। सांसारिक विषयों में चित्त कभी एकाग्र नहीं हो सकता है क्योंकि सांसारिक विषयों में स्वयं ही चंचलता है। ठहराव नहीं है। इस कारण सांसारिक विषयों के सम्बंध में चिंतन करने से उसमें एकाग्रता नहीं आती है।

योगी साधक जब परमात्मा के गुण, स्वरूप, कर्म के बारे में विचार करता है तो उसमें उसका चित्त धीरे–धीरे ठहरता है। जैसे किसी व्यक्ति को स्वर्ग के विषय में यह बताया जाए कि वहां पर सुख, दुःख, सर्दी, गर्मी नहीं है। वहां भूख प्यास भी नहीं है तो स्वर्ग के इस विवरण को सुनकर मनुष्य उस पर विचार करता है कि ईश्वर कैसा होगा ? बहुत ही सुन्दर स्थान होगा। इसी प्रकार जब हम परमात्मा के गुण उसके स्वरूप तथा उसके ब्रह्मांड की रचनारूपी कर्म के बारे में विचार करते हैं तो पाते हैं यह परमात्मा का अतुलनीय गुण है। उसका स्वरूप सूर्यवत् प्रकाशमय है। ऐसी स्थिति में योगी संसार के चिंतन को छोडकर परमात्मा की ओर स्वतः ही बढ़ता है और उसके चिंतन की एकाग्रता भी बढ़ती है। एकाग्रता का बढ़ना धीरे–धीरे पुष्ट होता है। उसमें समय के साथ परिपवक्ता आती है। सर्वश्रेष्ठ साधक का चित्त समग्रता से परमात्मा के विषय का चिंतन करते हुए शान्त हो जाता है और परमात्मा में ही समाहित हो जाता है। इसे आध्यात्मिक भाषा में समाधि कहा जाता है। सर्वश्रेष्ठ योगी अपना चित्त पूरी तरह से परमात्मा में एकाकार कर लेता है,समाहित हुआ सा प्रतीत होता हैं यही साधक के एकाग्रचित्त होने का साधन है।

(घ) परमात्मा का अनन्य चिंतन :–

परमात्मा का अनन्य चिंतन करने वाला साधक सर्वश्रेष्ठ योगी माना जाता है। परमात्मा के अनन्य चिंतन के सम्बंध में पूर्व में भी चर्चा हो चुकी है, इसलिए इस विषय को उसी स्थान पर देखना चाहिए।

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ योगी वही है जो परमात्मा में असीम श्रद्धा रखता हो, संसार के समस्त आश्रयों का परित्याग करके एकमात्र परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेता हो। संसार के समस्त विषयों के चिंतन को त्यागकर एकमात्र परमात्मा में ही अपने चित्त को समाहित कर दे तथा चित्त को एकाग्र कर दे। ऐसा करने वाला अनन्य चिंतक, साधक सर्वश्रेष्ठ योगी मानने योग्य है और वह समस्त प्रकार के योगियों में श्रेष्ठ है।

10– योगारूढ़ सन्यासी की स्थिति :–

1– योग पर आरूढ होने की इच्छा क्या है ?

मननशील पुरूष अपने जीवन के उद्देश्य का विनिश्चय कर लेने के पश्चात् मुक्ति की इच्छा करता है और मुक्ति की कामना ही उसे योग पर आरूढ होने के लिए बाध्य करती है। योग पर आरूढ होने की इच्छा इसी कारण होती है। मननशील पुरूष योग पर आरूढ होना चाहता है अन्य नहीं। योग पर आरूढ होने का अर्थ है उन साधनों पर चलना जिनसे मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। जैसे किसी स्थान पर पहुंचने के लिए हम किसी वाहन पर आरूढ होते हैं और वाहनरूपी साधन हमें हमारे गंतव्य अर्थात् लक्ष्य तक पहुंचाता है। हम यदि वाहन पर आरूढ होने चढने की इच्छा ही न करें तो हम गंतव्य तक नहीं पहुंच सकते। प्रयास हमें ही करना पड़ता है लक्ष्य तक पहुंचने का। वाहन साधन हो जाता है। इसी प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा हमें करनी पड़ती है तथा वह साधन वह विधि खोजनी पड़ती है जिससे हमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है। साधन को खोजने का कार्य भी हमारा ही होता है। सही साधन न मिलने पर गंतव्य तक नहीं पहुंचा जा सकता है। साधन खोजने का कार्य हमारा ही होता है। इच्छा न रहने पर लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कारण इच्छा महत्वपूर्ण तथ्य है।

योग पर आरूढ होने की इच्छा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति का विनिश्चय होता है। संसार में जिस प्रकार किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु हमें उसकी इच्छा करनी पड़ती है, अर्थात् इच्छा का प्रादुर्भाव पहले होता है। वस्तु की इच्छा होने पर वस्तु की प्राप्ति का यत्न होना है। मात्र इच्छा से की वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। इस कारण कमजोर इच्छा वाले लोग अपने कार्य में सफल नहीं हो पाते क्योंकि वे इच्छा तो करते हैं परंतु प्रबल इच्छा नहीं करते हैं। इस कारण पूरे प्रयास से साधन की खोज भी नहीं करते हैं और न ही साधन मिलने पर प्रयास ही करते हैं। इस कारण पहले उद्देश्य की इच्छा महत्वपूर्ण है। इच्छा के पश्चात् उसकी प्रबलता महत्वपूर्ण है। प्रबलता के पश्चात् सही साधन महत्वपूर्ण है। सही साधन के पश्चात् प्रबल प्रयास महत्वपूर्ण है और प्रयास के पश्चात् उसको पूरी सख्ती से क्रियान्वित किया जाना महत्वपूर्ण है। इस प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा महत्वपूर्ण है जिसमें योगरूपी साधन पर चला जाता है।

2– योगारूढ की इच्छा में कर्म ही कारण है –

यहां पर कर्म शब्द बहुत व्यापक अर्थ वाला है। कर्म का अर्थ है वे साधन जिनसे योग पर आरूढ हुआ जा सकता है। श्रीभगवान ने विगत दो श्लोकों में दो तथ्यों को स्पष्ट

किया है। एक–शास्त्र संगत कर्मो के आचरण तथा फलेच्छा के त्याग करने से योग की प्राप्ति हो जाती है। दो–संकल्पों का त्याग करने से भी योग की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले मुनि हेतु योग आरूढ के कारण तीन कर्म प्रतीत होते हैं। एक–शास्त्र संगत रूपी कर्मों का आचरण, दो–फलेच्छा का त्याग रूपी कर्म, 3–संकल्पों के त्यागरूपी कर्म। यह तीन कारण हैं जो योग आरूढ होने की इच्छा में आधारभूत तथ्य हैं। इन तीनों तथ्यों पर हम विस्तार से विचार करेंगे।

क– शास्त्र संगत आचरण रूपी कर्म–

योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले मुनि की इच्छा शास्त्र संगत कर्मों का आचरण करना ही योग आरूढ की इच्छा का कारण है। जब मुनि शास्त्र संगत कर्म करता है तो वह शास्त्र के प्रतिकूल कर्मों का परित्याग कर देता है। प्रत्येक कर्म पर विचार करके अपने कर्तव्य का निर्वहन करते हुए स्वयं के अधिकार क्षेत्र की सीमा में रहकर कर्माचरण करता है। शास्त्रसंगत आचरण में साधक शास्त्रीय ज्ञान को आधार मानकर ज्ञान करता है। इसी कर्म के संपादन के पूर्व शास्त्र की क्या व्यवस्था है? इस पर मुनि अवश्य विचार करता है। शास्त्र की विचारणा ही शास्त्रसंगत कर्म का आधार है। शास्त्र की व्यवस्था तथा आज्ञा बहुत विस्तृत है। शास्त्र प्रत्येक कर्म के प्रकार को स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है। मननशील मनुष्य इसी कारण निरंतर शास्त्र का अध्ययन किया करते हैं और शास्त्रीय व्यवस्था में रहते हैं। जिस प्रकार एक विधि शास्त्री (कानूनी प्रक्रियाओं का ज्ञाता) विधि व्यवस्था का निरंतर अध्ययन करता है। पुराने मूलभूत नियमों को जानता है। अनेक प्रकार के संविधान तथा उसकी सहायक पुस्तकों का अध्ययन करता है। यह अध्ययन की प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती रहती है। इसी कारण उसे विधि वेत्ता कहा जाता है। एक विधि वेत्ता किसी भी जटिल विषय में प्रक्रिया तथा नियमों के बारे में जानकारी रखता है और उसकी व्याख्या करता है।

वैसे ही शास्त्रसंगत नियमों के आचरण हेतु मननशील पुरूष निरंतर शास्त्रों का अध्ययन करता है तथा वह अनेक जटिल कर्मों के संबंध में अपना स्पष्ट मत प्रस्तुत करता है। इसके लिए उसे विधि शास्त्री की तरह से अनेक प्रकार के शास्त्रों का निरंतर अध्ययन व सेवन करना पड़ता है। इस प्रकार शास्त्रसंगत कर्मों के आचरण से योगारूढ होने की इच्छा होती है। उसके प्रतिकूल यदि मनुष्य शास्त्रसंगत कर्म नहीं करता है तो वह योगारूढ होने ही इच्छा नहीं करता है। इस कारण योगारूढ होने की इच्छा में शास्त्रसंगत आचरण रूपी कर्म भी एक कारण है।

ख– फलेच्छा का त्याग रूपी कर्म –

फल इच्छा के त्याग रूपी कर्म से भी योग आरूढ होने की इच्छा होती है। कर्म करके फल की इच्छा से बंधन हो जाता है तथा हम परमात्मा के अधिकार के उपभोग का प्रयास करते हैं। फल की आकांक्षा से जो कर्म किए जाते हैं वे संसार की वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त ही होते हैं। हम सभी जो भी कर्म करते हैं उनमें फल का विचारण तथा मूल्यांकन पहले ही कर लेते हैं। चूंकि कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक शास्त्र सम्मत कर्म तथा दूसरे शास्त्र प्रतिकूल कर्म। दोनों प्रकार के कर्मों का फल कर्ता को अवश्य प्राप्त होता है। हम इच्छा करें अथवा न करें फल की प्राप्ति से हम वंचित नहीं रह सकते। जैसे विद्यार्थी अध्ययन करते हैं जो जितना अच्छा अध्ययन करता है उसे परीक्षा में उतनी ही अधिक अंक प्राप्त होते हैं। यह अंक प्राप्त होना परीक्षा में श्रेणी प्राप्त होना अध्ययन रूपी कर्म का परिणाम है। उसके लिए हम इच्छा करें अथवा न करें वह तो हमें अवश्य ही प्राप्त होना है। इसमें फल की इच्छा करने का कोई अर्थ नहीं है, उससे कोई लाभ भी नहीं है।

बिना फल की इच्छा के ही हमें उचित परिणाम स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जितने भी कर्म हैं और जिनका हम संपादन करते हैं उनमें हमें फल अवश्य प्राप्त होता है। इसमें फल इच्छा का कोई काम नहीं है। श्री भगवान कहते हैं कि फल इच्छा का त्याग करके शास्त्रसम्मत कर्म करने से हमें योग आरूढ होने की इच्छा जागृत हो जाती है, क्योंकि फल इच्छा त्याग रूपी कर्म ही योग आरूढ होने की इच्छा में कारण है। कहने में, देखने में तो फल इच्छा का त्याग करना तो सहज प्रतीत होता है परंतु इतनी सहजता से फल इच्छा का त्याग नहीं होता है। अंतःकरण अर्थात् मन व बुद्धि से फल इच्छा का भाव हटता नहीं है। फल इच्छा के त्याग की स्थिति ऊंची स्थिति है। कर्म करके फल की इच्छा न करें यह कोई सहज, सामान्य और साधारण बात नहीं है। इसी कारण भगवान ने फल इच्छा के त्याग रूपी कर्म से योग आरूढ की इच्छा होना कहा है। ये स्थिति जब आ जाती है तो मनुष्य योग आरूढ होने की इच्छा करता है।

ग– संकल्पों के त्यागरूपी कर्म –

योगारूढ होने की इच्छा में संकल्पों का त्याग रूपी कर्म भी एक कारण है। जब तक मनुष्य संकल्पों को करता है तब तक वह संसार में होने वाली विभिन्न कर्मों का संपादन करता रहता है। संकल्पों के कारण ही मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति तथा प्रकृति के अनुसार संकल्प करता रहता है। जैसा संकल्प रहता है वैसा ही कर्म का आचरण रहता है। जब तक संकल्प रहते हैं, किए जाते है ंतब तक संसारिक

कर्म और चेष्टाऐं भी समाप्त नहीं होती हैं। संकल्पों तथा संसारिक कर्मों का साथ है। सत्कर्मी मनुष्य सत्कर्म का संकल्प करके पूजा–उपासना सहायता रूपी कर्म करता है और दुष्कर्मी मनुष्य दुष्कर्मों का संकल्प करके लूटपाट, हिंसादि कर्म करता है। धन एकत्र करने का संकल्प करके धन के एकत्रीकरण का प्रयास चलता है। इसी प्रकार संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के संकल्प से उन्हीं की प्राप्ति हेतु कर्म होते हैं। यह सब अनायास ही चलते रहते हैं। जब समस्त प्रकार के संकल्प समाप्त हो जाते हैं तो योग पर आरूढ होने की इच्छा होती है। जब तक संकल्प रहते हैं तब तक संकल्पों के अनुरूप ही कर्म होते हैं। जब संकल्प समाप्त होते हैं तो परमात्मा की ओर स्वाभाविक रूप से स्वतः ही उन्मुखता हो जाती है। इसी कारण श्री भगवान कहते हैं कि समस्त प्रकार के संकल्पों के त्याग रूपी कर्म से योग आरूढ होने की इच्छा होती है। इस कारण योग आरूढ की इच्छा में कर्म ही कारण कहा जाता है।

विशेष कर योग मार्ग पर चलने की इच्छा को योगारूढ होने की इच्छा कहा जाता है। योगारूढ होने की इच्छा का संबंध, अर्थ और निर्देश परमात्मा की ओर उन्मुखता से है। परमात्मा की ओर मनुष्य तभी उन्मुख होता है जब वह संसार से विमुख होने की इच्छा करता है। तब तक संसार में रहने तथा संसार को प्राप्त होने के संकल्प होते रहते है ंतब तक योगारूढ होने की इच्छा जागृत नहीं होती है। संसार मनुष्य को योग अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति से विमुख रखता है। जिस प्रकार ज्वर के रहने से भोजन की इच्छा नहीं हो सकती है। ज्वर के समाप्त होने पर ही भोजन की इच्छा जागृत हो जाती है। इस प्रकार ज्वर के समापन रूपी कर्म से भोजन की इच्छा का जागृत होना कहा जाता है। इसी प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा में संसार के कर्मों से निवृत होने तथा परमात्मा की ओर बढ़ने रूपी कर्म ही कारण कहा जाता है। इच्छा किसी कारण से जागृत होती है बिना कारण के इच्छा जागृत नहीं होती है। इसलिए योग आरूढ होने की इच्छा में भी कारण अवश्य रहता है यह कारण उपरोक्त प्रकार के कर्मों के रूप में शास्त्र संगत आचरण रूपी कर्म, फल इच्छा के त्याग रूपी कर्म तथा संकल्पों के त्याग रूपी कर्म ही योग आरूढ होने की इच्छा में कारण कहे जाते हैं।

4– शम किसे कहते हैं ?

मन स्वभावतः अशांत होता है मन का लक्षण चंचलता है। मन को शांत करने को शम कहा जाता है। जैसे वायु एक स्थान पर ठहरती नहीं, निरंतर गतिशील रहती है वैसे ही मन भी एक स्थान पर नहीं ठहरता और निरंतर गतिशील रहता है। मन की गति को

उसकी चंचलता को शांत कर देना ही शम कहा जाता है। साधारणतयः यह गति शांत नहीं होती है और मन निरंतर चला करता है। मन की गति आप अवलोकन करें तो पाएंगे कि वह एक साथ ही अनेक विषयों के बारे में विचार करता रहता है। यद्यपि वह एक समय में ही अर्थात् एक पल में एक ही विषय के बारे में विचार कर सकता है। परंतु विचारण की तेज गति के कारण वह अनेक विषयों का एक साथ विचारण करता हुआ प्रतीत होता है। जैसे पंखा चलता है तो उसके पंख प्रतीत नहीं होते हैं। उसके स्थान पर एक घेरा सा प्रतीत होता है। यद्यपि पंखें में पंख होते हैं परंतु तेज गति के कारण वे पृथक्–पृथक् नहीं दिखते हैं। वैसे ही मन की गति इतनी तीव्र है कि वह अनेक विषयों के बारे में एक साथ ही विचार करता हुआ प्रतीत होता है परंतु प्रत्येक विषय पृथक्–पृथक् विचारित किया जाता है। मन के समस्त विचार जब शांत हो जाते हैं तो यह स्थिति शम कही जाती है।

मन की शांति के दो उपायों का वर्णन शास्त्रों में आता है। एक तो मन अभ्यास से शांत होता है और दूसरे वैराग्य से शांत हो जाता है। अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बहुत ही व्यापक है। इस प्रकार शम के दो कारण एक अभ्यास व दूसरा वैराग्य है। अभ्यास कर्म प्रधान है व वैराग्य भाव प्रधान है। अर्थात् अभ्यास रूपी साधन में हमें प्रयास करना पड़ता है। अर्थात् वैराग्य रूपी साधन में हमें भावना करनी पड़ती है। प्रयास की निरंतरता से मन शांत हो जाता है और भावना के निरंतर चिंतन से ही मन शांत हो जाता है। शम की स्थिति आ जाती है। चूंकि योगारूढ के लिए शम ही कारण है इस कारण शम के उपायों अर्थात् अभ्यास और वैराग्य पर चर्चा आवश्यक है। इन दोनों तथ्यों पर चर्चा का अवलोकन कीजिए।

क– अभ्यास से शम की उपलब्धि –

मन को शांत करने का एक उपाय अभ्यास है। अभ्यास का अर्थ है जिन जिन कारणों से जिस जिस विषयों से मन अशांत होता है, रहता है, उन–उन कारणों को, उन–उन विषयों को समाप्त करना। प्रत्येक मनुष्य के मन के विचारण के विषय पृथक्–पृथक् होते हैं तथा पृथक्–पृथक् कारणों से मन अनेक विषयों में लिप्त हो जाता है। मन एक ही विषय पर सामान्यतः निरंतर विचार नहीं करता है। विशेष परिस्थिति में ही मन एक विषय पर विचार करता है। जैसे कोई घटना हो जाए, हम किसी असाध्य रोग से ग्रसित हो जाएं हमारे किसी संबंधी और संपर्कित व्यक्ति को कुछ दुख हो जावे अथवा उसे बहुत प्रसन्नता प्राप्त हो जावे, या कोई आपदा प्रस्तुत हो तो मन उसी विषय के बारे में विशेष रूप से विचार करता है।

साधारणतयः मन सामान्य स्थितियों में अनेक विषयों पर विचार करता रहता है। मन के विचारण विषयों की एक श्रृंखला रहती है। किसी निश्चित विषयों पर मन सामान्यतः विचार ही नहीं करता। जैसे वायु जब बहती है तो बहा करती है वैसे ही मन जब विचार करता है तो वह विचार किया ही करता है। रूकता नहीं है। एक विचार मन में आता है उस पर विचारण चलता है। इसी क्रम में दूसरा विचार आ जाता है तथा साथ ही तीसरा और चौथा विचार आ जाता है। यह विचारों की अनंत श्रृंखला सोने तक अर्थात् सुषुप्तिकाल तक चला करती है। रूकती नहीं है यह मन की विशेष शक्ति है कि वह अनेक विषयों पर निरंतर विचार करता है। मन के विचारण विषय पर इन्द्रियों का भी विशेष अधिकार रहता है अर्थात् जो विषय इन्द्रियों के संपर्क में आते रहते हैं वे अधिकांशतः मन के द्वारा विचारित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त भी मन अकेले ही अनुभूत तथा काल्पनिक विषयों पर विचार कर लेता है। अभ्यास से शम की उपलब्धि हो सकती है। कुछ तथ्यों का अवलोकन कीजिए।

1– संसार की गतिविधि को, दूसरे के क्रियाकलापों को उदासीनवत् भाव से देखें और उनमें उपेक्षा की दृष्टि रखें। उदासीनवत् भाव से देखने तथा उपेक्षा से ग्रहण न करने के कारण मन संसार की क्रियाकलापों तथा दूसरी गतिविधियों को ग्रहण नहीं कर पाते हैं। जब हम दूसरों की गतिविधियों को तथा संसारिक क्रियाकलापों को ग्रहण करते हैं ंतो हमारा मन तत्काल उन्हीं विषयों पर विचार करने लगता है। इस कारण शम के लिए उपेक्षापूर्ण दृष्टि तथा उदासीनवत् व्यवहार आवश्यक है।

2– संसार के विषयों को सुनें, देखें तो भी ग्रहण न करें। मधुर संगीत सुनकर ग्रहण न करने से मन की विचार प्रक्रिया रूकी रहती है। मधुर संगीत की तरह से जो भी विषय कानों को प्रिय लगते हैं उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस क्रिया से मन शांत रहता है। जब मन सुने गए प्रिय विषयों को ग्रहण नहीं करता है तो मन उन पर विचार नहीं करता है।

3– मन जिस किसी विषय का विचारण करता है यदि वह संसारिक विषय हो तो उसे निरर्थक समझना चाहिए। मन किसी विषय को सार्थक समझकर उस पर विचार करने लगता है। जब आप प्रत्येक विषय को निरर्थक करेंगे तो वह उस विषय पर विचार नहीं करेगा। किसी विषय को महत्वपूर्ण समझकर ही मन उसको ग्रहण कर लेता है तथा महत्वहीन विषयों को स्वतः ही छोड़ता है। हम महत्वहीन विषयों को महत्वपूर्ण समझकर मन

के विचारण प्रक्रिया को तेज कर देते हैं। जब हम विचारों को महत्वहीन कर देंगे तो मन उन पर स्वतः ही विचार नहीं करेगा।

4– मन अतीत की घटनाओं को स्मृति से निकालकर उन पर अकेले ही विचार किया करता है। अतीत की घटनाओं में विषयों से संबंधित प्रकरणों की अधिकता रहती है। जो विषय प्रिय होते हैं तथा जिनमें प्रियता रहती है और जो आनंद की अनुभूति करा चुके हैं उन पर विषयों पर मन विचार करता रहता है। उन समस्त अतीत की क्रियाओं को पूर्ण निरर्थक समझकर स्मृति में ही संचित रहने दें और उन्हें वहां से मत निकालें और वे यदि निकलने का प्रयास करें तो बुद्धि की विनिश्चय शक्ति से उन्हें स्मृति में ही अवरूद्ध कर दें। इस प्रकार अतीत के विषयों पर विचार न करने से मन शांत हो जाएगा।

5– जो–जो विषय मन में आते हैं उन–उन विषयों के प्रतिकूल विचार करें। ऐसे विरोधी विचार करने से मन शांत हो जाता है। ये भी मन के शांत करने का उत्तम प्रकार है।

6– मन प्रमथनशील है तथा अशांत रहकर चंचलता करता है। उसकी चंचलता लक्ष्यविहीन होती है। यदि लक्ष्य पर उसे स्थापित कर दिया जाए और पुनः–पुनः लक्ष्य पर स्थापित करने का प्रयास किया जाए तो भी मन धीरे–धीरे शांत हो जाता है। लक्ष्य का अवलंबन ले लेता है और आश्रय लेकर स्वतः शांत हो जाता है।

7– साधक स्वयं ये विचार करे कि हमारा मन किन कारणों से किन समस्याओं से अशांत है। उन कारणों का निवारण अथवा उन–उन कारणों के अस्तित्त्व को नकारने से मन शांत हो जाता है।

ख– वैराग्य से शम की उपलब्धि –

किसी कारण से जब संसारिक वस्तुओं, विषयों से मन उचाट हो जाता है और संसारिक भोगों में घृणा की स्थिति आ जाती है तो ये स्थिति वैराग्य कही जाती है। सामान्य रूप से संसार में हमारा मन रमा रहता है। क्योंकि उसे संसार में सुख का आभास होता है। जहां पर सुख मिलता है, सुख प्राप्त होने की संभावना रहती है वह वस्तु, व्यक्ति और स्थिति हमें प्रिय लगती है। मन की सहज प्रवृत्ति रहती है कि वह सुख का आकांक्षी होता है। सुख चाहता है, जब तक संसार में सुख लगता है और सुख प्राप्त होने की संभावना लगती है तब तक मनुष्य संसार में रमा रहता है। दुख प्राप्त होने पर भी भविष्य में सुख की संभावना से मन रमता है। सुख प्राप्ति की संभावनाएं तलाशता है। हम सभी के मन में ये भ्रम रहता है कि संसार में हमें सुख मिल जाएगा। यह भाव मन में घर कर गया

है। इसी कारण हम सुख को हम संसार में खोजा करते हैं और सुख पाने की लालसा में प्रयत्नशील रहते हैं। कतिपय कारणों से यदि अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त हो जाती है तो उसे ही हम सुख मान लेते हैं और उसी में हम प्रसन्न रहते हैं।

वस्तुतः संसार में सुख नहीं है। यह हमारा भ्रम है कि संसार में सुख है। इसी भ्रम में हम सुख प्राप्ति का प्रयास करते हैं तथा दुख आने पर सुख की संभावना खोजते हैं। हम संसार की वास्तविकता से परिचित हो जाते हैं कि संसार में सुख नहीं है तो हमें संसारिक विषय भोगों से घृणा हो जाती है। मन सुख की चाहना में अशांत रहता है और जब वास्तविकता से वह परिचित हो जाता है तब वह अनेक प्रकार के विषयों का विचारण छोड़ देता है और शांत होने लगता है। इसी स्थिति को हम वैराग्य कह सकते हैं। वैराग्य का प्रमुख लक्षण संसार की वास्तविकता को जानकर उसके मोह से अपने को पृथक् कर लेना है। वैराग्य से शम की प्राप्ति हेतु निम्न विचारों का अवलोकन कीजिए–

1– यह संसार विनाशशील स्वभाव का है और धीरे–धीरे स्वतः ही विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। उसकी विनाशशीलता में सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। इसके विनाशी स्वभाव में स्थिरता नहीं है और अस्थिर वस्तु में सुख की कल्पना करना एक भ्रम मात्र है।

2– संसारिक भोगों में क्षणिकता है, अनित्यता है जिसमें फंसकर मनुष्य दुखी होता है। अशांत रहता है। इस कारण संसारिक भोगों के त्याग से शम की स्थिति प्रबल हो जाती है और मन शांत हो जाता है।

3–संसार को दुखस्वरूप मानकर मनुष्य संसारिक भोगों का त्याग करता है। संसारिक भोग पहले तो सुखद मालूम होते हैं परंतु पश्चात् में वह अनिवार्य रूप से दुखद प्रतीत होते हैं। इस दुख से ही मन अशांत हो जाता है।

4– संसार असत् है और धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है। यह मानव शरीर भी असत् है और धीरे–धीरे वह समापन की ओर जा रहा है। इस कारण असत् संसार और इस असत् मानव शरीर से मोह समाप्त करें और सत् अर्थात् परमात्मा से संबंध रखें यदि वैराग्य है।

5– योगारूढ होने में शम ही कारण है :–

श्रीभगवान ने कहा कि असंयत मन वाले के लिए योग की प्राप्ति कठिन है। ऐसा श्री भगवान का स्पष्ट मत है। वास्तविक तथ्य यही है कि जिस साधक का मन अशांत रहता है। चंचल और प्रमथनशील रहता है उसके लिए योग प्राप्त होना कठिन है। असंभव

ही है। मन की चंचलता के कारणों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि मन की संपूर्ण क्रियाविधि संसार में है। संसारिक विषयों में फंसा हुआ मन अशांत रहता है। यह स्थिति शम के प्रतिकूल है। इस कारण साधक जब तक मन को संसार से बाहर नहीं निकालता है तब तक शम की उपलब्धि नहीं होती है तथा शमरहित मन योग पर आरूढ नहीं हो सकता है। इसी कारण योग आरूढ होने में शम ही कारण है।

योग पर आरूढ होना एक स्थिति है जो मन के शांत होने पर ही संभव है जब तक मन शांत नहीं होता तब तक वह स्थिति अप्राप्य रहती है। साधक यह तथ्य जान जाता है। इस कारण साधक अपने मन को शांत करने का प्रयास करता है। मन साधारणतयः शांत नहीं हो पाता है परंतु प्रयास से शांत हो जाता है तथा योगारूढ की स्थिति प्राप्त हो जाती है। मन की अशांति के जो कारण हैं उन पर साधक को, प्रयत्नशील पुरूष को विचार तथा निरीक्षण करना चाहिए। मन साधन काल में साधारण सामान्य समय में कहां जाता है? वहां वहां से उसे वापस लाना पड़ता है। मन की गति बहुत तेज है तथा उसके निकलने के बहुत मार्ग हैं। उन मार्गों को समझकर उन पर अवरोध खड़े करने पड़ते हैं। प्रमुख रूप से संसारिक विषय तथा समस्याएं भी साधना में मन को शांत नहीं होने देते हैं। संसारिक विषयों में रूचि रहती है तथा सुखद अनुभूति की कल्पना रहती है और संसारिक समस्याओं में उलझाव रहता है। इस कारण मन अशांत रहता है। एक समस्याग्रस्त व्यक्ति का मन कभी शांत नहीं हो सकता तथा भोगों में सुखद अनुभूति देखने वाला और करने वाला भी अशांत रहता है। यह योग के आरूढ होने की प्रतिकूल स्थिति है।

संसारिक समस्याएं तो प्रत्येक साधक के साथ रहती हैं और आती–जाती रहती हैं। कभी अनुकूल स्थितियां आती है ंतो कभी स्थितियों में प्रतिकूलता रहती है। इससे मनुष्य अशांत रहता है। किसी भी प्रकार की समस्या आने पर अशांत हो जाना स्वाभाविक है। यह परिस्थितियों के क्रम में बहुत ही बाधक है। जब साधक अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों को आने जाने वाला मानकर उनसे प्रभावित नहीं होता है तब वह शांत हो जाता है और वह शम की स्थिति प्राप्त कर लेता है। यह शम की स्थिति योग आरूढ होने में कारण कहा जाता है। जैसे अंधकार के समापन में प्रकाश का आना ही कारण कहा जाता है, वर्षा के होने में बादल ही कारण कहा जाता है, सुख–दुख होने में कर्म ही कारण कहा जाता है। कर्मफल में कर्मो का संपादन ही कारण ही कहा जाता है। अस्वस्थता की मुक्ति हेतु औषधि और उपचार ही कारण कहा जाता है, अज्ञान के निवारण में ज्ञान ही कारण कहा जाता है। वैसे योग आरूढ होने में शम ही कारण कहा जाता है।

श्रीभगवान ने इस श्लोक में योग आरूढ होने की इच्छा को कारण को कर्म कहा है। तथा योग आरूढ हेतु शम ही कारण कहां है। अब अग्रिम श्लोक में योग आरूढ की स्थिति का अंतिम वर्णन करके इस प्रकारण का समापन करना चाह रहे हैं। इसी विषय को प्रदर्शित करने हेतु श्री भगवान अगले श्लोक को कह रहे हैं।

11– योग प्राप्ति की दुरूहता :–योग की प्राप्ति हेतु मन का संयमित होना अनिवार्य है। जिसका मन असंयमित है उसे योग की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है। असंयति मन वाला साधक अपने अभीष्ट तक नहीं पहुंच सकता हैं क्योंकि योग की सिद्धि में मन की ही महत्व हैं मन ही आधारभूत तत्त्व है इस कारण मन को ससंयमित स्थिति में रखने वाले साधक को योग की प्राप्ति दुरूह और कठिन है। असंयमित मन से योग की प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? तथा संयमित मन से योग की सिद्धि क्यों हो जाती है ? यह विचारणीय प्रश्न है। असंयत तथा संयत मन की क्रिया विधि के सम्बंध में जानना चाहिए।

(क) असंयत मन की क्रियाविधि :–

(एक) असंयत मन सांसारिक विषयों में भ्रमण किया करता है तथा उसके विचार में अनेक सांसारिक विषय आते रहते हैं, जिनसे वह परिस्थिति, कार्य के अनुकूल विषयों का विचारण करता रहता है।

(दो) असंयत मन वाला व्यक्ति एक स्थान पर नहीं ठहरता है और वह अस्थिर रहकर कभी एक विषय का ग्रहण नहीं करता है। दूसरे विषय भी उसके मन में स्वाभाविक रूप से आते रहते हैं। मन की स्थिति निरन्तर घूमने वाले भ्रमण की तरह हो जाती है। यही असंयमित मन का लक्षण है।

(तीन) असंयत मन की विचारण शक्ति असीमित रहती है। असयंमित का अभिप्राय है कि वह कभी एक विषय के बारे में विचार ही नहीं कर सकता है।

(चार) असंयत मन का प्रमुख लक्षण है अनेक प्रकार के विषयों का पृथक्–पृथक् रूप से विचारण करना। न तो एक विषय होता है और न ही एक विषय का चिंतन होता है। इसीलिए मन असंयमित रहता है।

(पांच) असंयमित मन की क्रियाविधि एक भागते हुए वाहन की तरह से होती है जो कभी तीव्र गति से भागता है और कभी–कभी अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों के संयोग में अपनी गति धीमी कर लेता है।

(ख) संयत मन की क्रियाविधि :–

(एक) संयत मन संसार की क्षणिकता,विनाशीलता तथा विकारी स्थिति को समझ लेता है इस कारण वह शान्त होने का प्रयास करता है तथा संयत हो जाता है।

(दो) संयत मन की विचार शक्ति संसार से धीरे–धीरे हटती है और अध्यात्म की ओर मुड़ती है। वह संसार के बारे में विचार करके ही अध्यात्म की ओर उन्मुख हो जाता है।

(तीन) संयत मन परमात्मा में समाहित होने का प्रयास करता है। सांसारिक विषयों के प्रति अरूचि उत्पन्न हो जाना इसका प्रमुख लक्षण है।

(चार) संयत मन सांसारिक भोगों की क्षणिकता को जान जाता है तथा उन भोगों के दुष्प्रभाव को भी जानता है, इस कारण सांसारिक भोगों को त्यागने का प्रयास करता है।

(पांच) संयत मन का प्रमुख लक्षण है परमात्मा के बारे में विचार करना है। और आध्यात्मिक विषयों का चिंतन करना तथा सांसारिक भोगों के चिंतन के प्रवाह को रोकना।

जिस किसी साधक को योग प्राप्ति की इच्छा हो उसे प्रथमतः मन को संयमित करने का, अनियंत्रित मन को रोकने का प्रयास करना यथेष्ट है। यदि किसी भी प्रकार से मन संयमित नहीं हो सकता हैं तो योग की उपलब्धि कठिन समझनी चाहिए। असंयत मन से योग की उपलब्धि असंभव है।

12– योगी के चित्त की उपमा :–

मनीषियों ने योगी के चित्त की उपमा को पृथक्–पृथक् प्रकार से परिभाषित किया है। किसी ने नदी के प्रवाह की तरह कहा है किसी ने तेल की धारा की उपमा दी है और अन्य किसी ने प्रज्ज्वलित ज्योति की लौ से की है। इन पृथक्–पृथक् प्रकारों से जो योगी की चित्त की उपमा परिभाषित की गई है उसका सम्बंध विशेष कर परमात्मा के चिंतन से है और जब परमात्मा का चिंतन एकतार हो जाता है और बाहय विषयों का चिंतन कदापि नहीं करता तो वही योगी सफल होता है। उसे ही तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, जिसका चित्त परमात्मा के चिंतन में एकाकार नहीं होता है वह योगी आत्मतत्त्व का दर्शन कदापि नहीं करता है।

योगी अपने चित्त की परख स्वयं कर सकता है। यह प्रयोगात्मक विषय है, इसे साधना के पश्चात् ही अनुभव किया जा सकता है। चित्त साधारणतयः सांसारिक विषयों में

बंटता है। यह चित्त की प्रवृत्ति है। यह चित्त की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है इस कारण हमें इसके नियंत्रण हेतु प्रयास करना पडता है। जगत के आरम्भ से अर्थात् बाल्यावस्था से ही है। बाल्यावस्था से आज तक हम जब योग साधना की ओर उन्मुख हुऐ तो समस्त घटनाऐं हमारी स्मृति में संचित हो जाती है। वे पुनः पुनः प्रकट होती है। स्मृति में संचित घटनाएं यदि सांसारिक है तो वही हमारे चित्त की चंचलता का प्रमुख कारण बनती है। हमने संसार में रहकर संसार की प्रियता का आनन्द प्राप्त किया है। वह सबका सब भी हमारी स्मृति में संचित रहता है और वह योग साधना काल में प्रकट हो जाता है हुआ करता है। यह भी योग साधना का प्रतिकूल तथ्य है। संसार और संसार के प्रति भी संसार की प्रियता सबकी स्मृति में पायी जाती है। इस कारण वे ही चित्त को पुनः पुनः असंयमित करती है। जब हम योग साधना करते है तो वह धीरे–धीरे प्रकट होती हैं। चूंकि असंख्य घटनाऐं और अनगिनत प्रकरण हमारी स्मृति में संचित हैं इस कारण वे एक के पश्चात् एक प्रकट होते रहते हैं और हमारे चित्त को अपने साथ उड़ा ले जाते हैं। यह क्रिया चलती रहती है और हम योग साधना में असफल हुआ करते हैं।

प्रयास करता हुआ साधक दो क्रियाओं को कर सकता है। एक तो स्मृति में संचित अतीत की घटनायें जो साधन काल में उपभरती है उन्हें विस्मृत करने का प्रयास करना चाहिए तथा उन्हें शान्त कर देना चाहिए। अपने चित्त को संसार से हटाकर परमात्मा में संलग्न करना चाहिए। यह क्रिया पुनः पुनः करनी पड़ती है, तब धीरे–धीरे चित्त संसार से हटता है और परमात्मा में लगता है तब येागी की साधना पुष्ट होती जाती है। यह सबका सब प्रयोगात्मक कार्य है। साधना का स्वरूप है। इसे योगी ही समझता है। चित्त की एकाग्रता प्रयास से आती है ऐसे नहीं आती है। निरन्तर प्रयास से चित्त उपराम हो जाता है, ठहर जाता है और नदी की धारा की तरह से निरन्तर वह परमात्मा का चिंतन करता है। योगी की स्थिति को योगी ही जानता है और परमात्मा के चिंतन में एकरस होकर उसमें डूबने लगता है। योगी संसार से सर्वप्रकारेण विरत होकर परमात्मा की ओर बढ जाता है। यही योगी के चित्त की एकाकार स्थिति है जो अंततः आत्मतत्त्व का दर्शन कराती है।

13– योगी की विशेष स्थितियां और परख :–

योगी की विशेष स्थितियां और उसकी परख के सम्बंध में इस पुस्तिका में अंततः निरूपण किया जाना अति आवश्यक है, जिससे साधक अपनी स्थिति को परख कर उसका मूल्यांकन कर सकता है। इन स्थितियों को क्रमशः उल्लिखित किया जा रहा है।

1– दृश्य : जब साधक एक योग साधना की ओर बढ़ता है तो उसे विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की प्रतीति होती है। योग साधन में दृश्यों का देखना शुभ संकेत है। कभी कभी स्वप्नावस्था में तेज प्रकाश सूर्य के समान प्रकाश प्रतीत होता है। चक्र की गति का आभास होता है। इसके अतिरिक्त ध्यान करने पर जुगनू की ज्योति, विद्युत प्रकाश पृथक रंगों का, स्फटिक मणि, कुहासा, धुंआ सा, तेज प्रकाश, तेज वायु आदि प्रतीत होते हैं। यह प्रतीति योगकी साधना की उच्च स्थिति है। यह साधारणतयः प्रतीत नहीं होती है। ध्यान में यदि उपरोक्त प्रकार के दृश्य प्रतीत हो तो साधक को धैर्यपूर्वक साधना करते रहना चाहिए।

2– आलस्य का समापन : राजसी और तामसी प्रकृति के लोगों में आलस्य का रहना एक सामान्य लक्षण है। योग साधना में जब साधक आगे बढ़ता है तो उसमें आलस्य का समापन हो जाता है। शरीर में शक्ति और स्फूर्ति रहती है। आलस्य का प्रमुख कार्य मनुष्य को सांसारिक कार्यो से विमुख करता है। आलस्य के रहने पर जीविका के उर्पाजन का कार्य भी संभव नहीं है। योगी में आलस्य का अभाव हो जाता है।

3– सांसारिक पदार्थो में आसक्ति का विनाश : योगी मनुष्य का विशिष्ट गुण है कि उसका सांसारिक पदार्थो से आसक्ति का विनाश होने लगता है। सांसारिक पदार्थो की प्रियता समाप्त हो जाती है। विशिष्ट योगी, उत्कृष्ट साधक को जगत में भारी दुःख भी विचलित नहीं कर पाते हैं। यह योगी की परख होती है। हम सब सामान्य लोग जगत में दुःखों के आने पर दुःखी हो जाते हैं तथा सांसारिक पदार्थो और भोगों का वियोग होने पर मन में शोक की उत्पत्ति होती है, परन्तु योगी को सांसारिक पदार्थो में आसक्ति का अभाव होने पर दुःख की प्राप्ति समाप्त हो जाती है। यही विशिष्ट योगी की परख है।

4– निरोगता : सामान्य मनुष्यों मे आयु, जलवायु, मौसम के साथ शरीर में रोगों का भी प्रादुर्भाव हो जाता है परन्तु योगी के शरीर में निरोगता रहती है। यदि वह कतिपय कारणों से किसी रोग से ग्रस्त हो जाता है तो भी शीघ्र ही बिना उपचार के अथवा सामान्य उपचार के आधार पर उसमें आरोग्यता का प्रकटीकरण होता हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि योगी पर परमात्मा की विशेष कृपा रहती है और उसका जीवन संयमित होने के कारण उसमें आरोग्यता का संयोग रहता है।

5– शरीर के वर्ण उज्ज्वलता : वृद्धावस्था में भी शरीर में योगी पुरूष में चमक रहती है तथा उसका शरीर उज्ज्वल रहता है। यह उज्ज्वलता तथा तेज योग साधना के कारण ही होती है। बाल्यावस्था और युवावस्था में तो मनुष्य सुन्दर प्रतीत होता है परन्तु वृद्धावस्था आने पर मनुष्य का शरीर कुरूप का प्रतीत होता है। मनुष्य का वर्ण सुन्दर रहे इसके लिए

योग साधना ही एक आधार है। आपने संत महात्माओं, मनीषियों के शरीर षौष्ठव को देखा होगा। उसका एक ही कारण है कि वे योग साधना में अर्थात् परमात्मा के चिंतन में लगे रहते हैं। इस प्रकार योगी के शरीर की उज्ज्वलता और उसका तेज विशिष्ट योगी की परख है।

6– शरीर में सुगन्ध का प्रादुर्भाव : योगी साधक के शरीर में विशिष्ट सुगन्ध का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह स्थिति योगसाधना की उत्कृष्टता में प्राप्त होती है। प्राथमिक साधकों को यह स्थिति प्राप्त नही होती है। सांसारिक पदार्थो और भोगों से सम्बंध समाप्त कर लेने के कारण योगी के शरीर में सुगन्ध का विशेष प्रादुर्भाव हो जाता है। यही योगी का विशिष्ट लक्षण भी है।

7– मल मूत्र की स्वल्प मात्रा : योगी साधक में भोजन का पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। अर्थात् योगी संयमित मात्रा में सात्त्विक भोजन करता है। उसके द्वारा जो भोजन किया जाता है वह भी अल्प मात्रा में होता है। इसलिए उसका मल मूत्र भी कम मात्रा में आता है। यह योगी की विशेष स्थिति है जिसका वह स्वयं अनुभव करता है।

8– आत्मदर्शन : योगी अंततः आत्मदर्शन कर लेता है। आत्मदर्शन ही योगी का परमलक्ष्य है। आत्मदर्शन की प्राप्ति इतनी सहजता से संभव नहीं है। काफी लम्बे अंतराल में धैर्य से साधना करने से तत्परता से योग का सेवन करने पर तथा योग पर आरूढ़ हो जाने पर शीघ्र ही आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन की प्रक्रिया में जो साधन अपनाये जाते हैं उनका ज्ञान तत्त्वज्ञ को होता है परन्तु परमात्मा के अनन्यचिंतन से आत्मदर्शन की स्थिति शीघ्रता से आ जाती है। भ्रामक और संशययुक्त साधन से आत्मदर्शन नहीं होता वरन् अनेक प्रकार की प्रतिकूल स्थितियां आ जाती है। इसलिए परमात्मा के चिंतन का और उस चिंतन में निरन्तरता लाने का हमें प्रयास करना चाहिए, यही आत्मदर्शन का मूलमंत्र है।

✓ **<u>लेखन आरम्भ २६ मार्च २०१२ और समापन ०५ अप्रैल २०१२</u>**